ध्वज - आलोक

लेखक

श्री मल्लिनाथ, एम० ए०



प्रकाशक

नोवेल्टी एण्ड कम्पनी

अशोक राजपथ :: पटना-४

मूल्य २.०० रु०

गरुड़ध्वज-आलोक

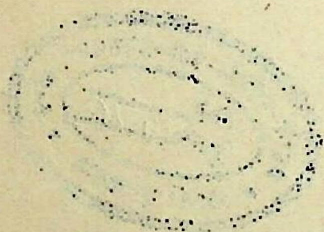
लेखक
श्री मल्लिनाथ, एम० ए०



प्रकाशक
नोवेल्टी एण्ड कम्पनी
अशोक राजपथ :: पटना–४

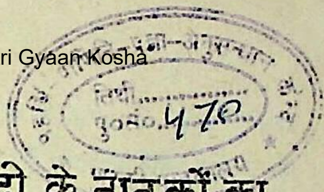
मूल्य २·०० रु०





विषय-सूची





कला, काव्यकला और हिन्दी के नाटकों का संक्षिप्त इतिहास

कला—कला के दो भेद हैं—उपयोगी और ललित। उपयोगी कला उसे कहते हैं जिससे हमारी वाहरी, शारीरिक या भौतिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति होती है। लज्जा-निवारण के लिए हमें एक ऐसा पदार्थ चाहिए जिससे हम अपने कतिपय विशिष्ट अंगों को ढँक सकें। हमारी नजर कमल के बड़े-बड़े पत्तों पर पड़ी, कई पत्तों को कमल-तन्तुओं से ही बाँधकर हमने एक दिन अपना काम चलाया। दूसरे दिन सभी पत्ते सूख गये, तार-तार हो गये, चूर-चूर हो गये। हमारा अनुसंधान चलता रहा, और एक दिन हमने पाया कि वृक्ष की छाल अधिक टिकाऊ होती है, उससे हम अधिक दिनों तक विना विशेष परिश्रम के अपनी लज्जा का निवारण कर सकते हैं। पर वृक्ष की छाल कड़ी होती है, उससे हमारे कोमल अंग छिल जाते हैं। आवश्यकता हुई कि हमें एक ऐसा पदार्थ चाहिए जो छाल की तरह टिकाऊ भी हो और कमल-दल की तरह कोमल भी हो। समाज के एक दूसरे सदस्य ने एक बाघ का शिकार किया था और थोड़े कौशल से उसका साबित चमड़ा उतारकर अपनी गुफा के पासवाले एक वृक्ष की टहनी पर यों ही फेंक दिया था। घर की किसी नवयुवती ने लज्जा निवारणार्थ उसे अपने शरीर पर डाल लिया और पाया कि यह छाल की तरह अंगों को कष्ट नहीं पहुँचाता और मजबूत तथा टिकाऊ भी है। इसी क्रम में हजारों वर्षों के वाद एक दिन उड़ती हुई रूई हाथ लग गई। इतना कोमल और हलका! कहीं इसका परिधान बने तो कोई कष्ट ही नहीं रहे। और इसी प्रकार हजारों वर्षों की सतत जिज्ञासा और अनुसंधान के फलस्वरूप हम रेशम तक पहुँचे। दर्जी उसे इस तरह काट-छाँटकर सी देता है कि वह हमारे शरीर पर फबने लगता है।

पर ठीक इसके विपरीत ललित कलाएँ हमारी किसी आध्यात्मिक आवश्यकता की पूर्त्ति करती हैं। हमारे भौतिक जीवन के लिए उनकी उपयोगिता नहीं के

बराबर रहती है। हमारे लिए कुर्सी, पलंग, चौखट, किवाड़, आलमारी, जूता, कुरता, हल आदि अनिवार्य हैं, पर यदि हमारे घर में कोई मूर्ति नहीं है, कोई चित्र, वाद्य, या महाकाव्य नहीं है तो हमें भौतिक रूप से अपने जीवन को खेप लेने में कोई कठिनाई नहीं होती। ललित कलाएँ हमारी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति नाममात्र को भी नहीं करतीं। बाह्य कौशल और आंतरिक आत्मा का प्रकाश—इन दोनों में जो भेद है, वही उपयोगी और ललित कलाओं का भेद है। उपयोगी कलाओं में अवस्थित सौन्दर्य का क्रम हमारी सभ्यता के विकास के क्रम को स्पष्ट करता है और ललित कलाएँ हमारे सांस्कृतिक विकास का परिचय देती हैं। हम सभ्यता के किस सोपान पर पहुँचे हैं, यह उपयोगी कलाओं का व्यवहार बता देगा; हम संस्कृति के किस सोपान पर बैठे हैं, यह ललित कलाओं का प्रयोग बता देगा। हमारा मन कितना परिष्कृत है, यह बताना उपयोगी कलाओं का काम है, हमारी आत्मा कितनी प्रोज्ज्वल है, यह बताना ललित कलाओं का काम है।

ललित कला :—साधारणतः ललित कला के पाँच भेद माने गये हैं—वास्तुकला, मूर्त्तिकला, चित्रकला, संगीतकला और काव्यकला। आधार की मूर्त्तता का न्यूनाधिक होना ही कलाओं की पारस्परिक उत्कृष्टता और अपकृष्टता की कसौटी है। इस मूर्त्त आधार की मात्रा के अनुसार ही ललित कलाओं की श्रेणियाँ स्थिर की गयी हैं। जिस कला में मूर्त्त आधार जितना ही कम रहेगा, वह कला उतनी ही उच्चकोटि की समझी जायगी। ज्यों-ज्यों मूर्त्त आधार कम होता जाता है, त्यों-त्यों कलाकार का सामर्थ्य और कला का सौन्दर्य अधिक होता जाता है। जो कलाकार कम-से-कम मूर्त्त आधार के बल पर अधिक-से-अधिक सौन्दर्य की सृष्टि करता है, वह उतना ही अधिक समर्थ और श्रेष्ठ माना जाता है, एवं उसकी कला उतनी ही अधिक सुन्दर—उतनी ही अधिक उत्कृष्ट मानी जाती है।

जब हम जीवन की रागात्मक व्याख्या, भावुकतापूर्ण आलोचना, भाषा के माध्यम से उपस्थित करते हैं, तब काव्यकला की उत्पत्ति होती है। काव्य को ललित कलाओं में भी सर्वश्रेष्ठ इसीलिए माना गया है कि उसमें जहाँ एक ओर मूर्त्त

आधार अत्यधिक न्यून है, वहीं दूसरी ओर उसकी अभिव्यंजना का क्षेत्र अत्यन्त सूक्ष्म और विशद भी बन जाता है। मानव जीवन की जितनी सूक्ष्म और प्रभावशाली व्याख्या काव्य द्वारा संभव है उतनी अन्य किसी भी कला द्वारा नहीं। इसका मूर्त्त आधार नाद से भी अधिक सूक्ष्म शब्द-संकेत है, इसीलिए यह शब्द-संकेतों के आधार पर हमारे मानस पटल पर शिल्प, चित्र, नृत्त, संगीत आदि सभी कलाओं के कार्य सम्पन्न कर देती है। कौन-सा शब्द किसी भाव विशेष को हमारे अंतर में खोंचा मार कर सर्वाधिक सफलता से उभार दे सकता है, इसका परिचय ही कवि की सब से बड़ी शक्ति है। किसी शब्द-विशेष का उच्चारण हुआ कि तत्क्षण उसका चित्र या उसके अनुरूप भाव हमारे मानस में उभरेंगे, उपस्थित होंगे। यहाँ कल्पना का सर्वाधिक प्रयोग होता है। अब हम दौड़ते हुए घोड़ों, गिरते हुए झरनों, बहती हुई सरिताओं, लहराते हुए सागरों, घुमड़ते हुए मेघों, कौंधती हुई बिजलियों आदि को बिना रेखा-रंग के सिर्फ शब्दों के आधार पर उपस्थित कर सकते हैं तथा रति, शोक, उत्साह, निर्वेद आदि सभी भावों को उनके समस्त संचारी भावों के साथ प्रकट कर दे सकते हैं। यही कारण है कि काव्यकला उपर्युक्त सभी कलाओं से उत्कृष्ट मानी जाती है।

दृश्य काव्य—काव्यकला दो भागों में बाँटी गयी है—श्रव्य और दृश्य। श्रव्य में श्रवणेन्द्रिय के सन्निकर्ष से रसानुभूति होती है, और दृश्य में श्रवणेन्द्रिय तथा चक्षुरेन्द्रिय--दोनों के योग से। श्रव्य को सिर्फ सुनकर भी हृदयंगम किया जा सकता है पर दृश्य के लिए चक्षुरेन्द्रिय का व्यवहार अपरिहार्य है। प्रबन्ध काव्य, खण्ड काव्य, कहानी, उपन्यास, गीत, मुक्तक आदि श्रव्य काव्य हैं, नाटक दृश्य काव्य है। नाटक को शास्त्रीय भाषा में रूपक कहते हैं। नाटक, रूपक के अनेक भेदों में से एक भेद है। एक व्यक्ति का दूसरे पर आरोप करने को रूपक कहते हैं—**रूपारोपात्तुरूपकम्**—यानी, नट पर जब अन्य पात्रों का आरोप किया जाता है तब रूपक बनता है। नाटक शब्द की व्युत्पत्ति नट् धातु से हुई है, जिसका अर्थ है सात्त्विक भावों का प्रदर्शन। दूसरे अर्थ में नाटक का सम्बन्ध नट (अभिनेता) से होता है, और उसकी विभिन्न अवस्थाओं की अनुकृति को ही

नाटक कहते हैं। रवीन्द्रनाथ ने कहा है—"**The art that holds the mirror upto nature by personating different costumes and gestures is the dramatic**"। नाटक देखने की चीज है। दर्शक को नाटक के पात्रों के शब्द और कार्य सुन-देखकर ही प्रभावित हो जाना पड़ता है। श्रव्य काव्य में लेखक को अपनी ओर से कहने की बड़ी सहूलियत रहती है, जो सच्ची कला पर प्रहार करती है। नाटक में यह बात नहीं होती। वहाँ लेखक अपनी ओर से कुछ नहीं कह सकता। नाटककार एक ऐनक उपस्थित कर देता है, और उसकी सफलता यही है कि वह वस्तु का हू-बहू प्रतिबिम्ब उपस्थित कर दे। अपनी ओर से न तो एक रेखा अधिक खींचे और न एक रंग अधिक मिलावे। नाटक, इसीलिए श्रव्य की अपेक्षा एक उच्चतर कला है और इसीलिए अधिक कठिन है। वह सर्वकला समन्वित है—

न सयोगो, न तत्कर्म, नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते।
सर्व शास्त्राणि शिल्पानि, कर्माणि विविधानि च।

न ऐसा योग है, न ऐसा कर्म, न शास्त्र, न शिल्प, अथवा अन्य कोई ऐसा कार्य जिसका नाटक में उपयोग न हो।

इतिहास :—भरत मुनि नाटकों के आदि आचार्य माने जाते हैं। उनके कथनानुसार नाटकों की उत्पत्ति वेदों से स्वयं ब्रह्मा द्वारा हुई। ब्रह्मा ने ही ऋग्वेद से कथोपकथन, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लेकर यह नाटक देवताओं के मनोरंजनार्थ तैयार किया। कतिपय पाश्चात्य विचारकों ने नाटक को वीर-पूजा के अवसर पर होनेवाली अनुकृति का विकसित रूप माना है, कोई कठपुतलियों के खेल में तो कोई ऋतु-परिवर्तन के समय पर होनेवाले पर्वोत्सवों में इसकी उत्पत्ति खोजते हैं। खैर, जो भी हो, पर इतना सत्य है कि संस्कृत का नाट्य-साहित्य अत्यन्त सम्पन्न और समृद्ध है। ईसा की प्रथम शताब्दी में लिखित भास से लेकर दसवीं शताब्दी के राजशेखर तक दर्जनों उच्चकोटि के नाटककार हुए हैं जिनके नाटक अभी भी उपलब्ध हैं और विश्व-साहित्य की निधि माने जाते हैं।

हिन्दी में पहले-पहल जो नाटक लिखे गये, वे प्रायः संस्कृत के अनुवाद थे और पद्यात्मक संवाद के रूप में थे। इनमें सबसे पहला नाटक जैन कवि बनारसी दास का था--'समयसार' जो १५३६ ई० में लिखा गया। यह नाटक कुंदकुंदाचार्य के ग्रंथ का भाषांतर है। यह काव्य में कथोपकथन है, इसीलिए नाटक कहा जाता है, पर वास्तव में यह नाटक है नहीं। 'समयसार' में कथा से अधिक धर्म, कथोपकथन से अधिक नीति, और उद्देश्य से अधिक सूक्तियाँ हैं। इसमें केवल जैनधर्म-सम्बन्धी सात तत्वों का पद्यमय वर्णन और नीति-कथन है। इसी तरह का दूसरा नाटक प्राणचन्द चौहान लिखित 'रामायण महानाटक' है जो १६१० में लिखा गया। यह भी चौपाइयों में है और सिर्फ कथोपकथन रहने के कारण नाटक माना जाता रहा है। इसी परम्परा में १७ वीं शताब्दी के अन्त में कृष्णमिश्र-कृत संस्कृत नाटक 'प्रबोध चन्द्रोदय' के कई अनुवाद हुए। इनमें से एक जोधपुर-नरेश महाराज यशवंत सिंह का है जो लगभग १६५० में लिखा गया होगा। पद्यमय होते हुए भी बीच-बीच में पात्र आदि के कथन, उनके आने-जाने आदि का उल्लेख गद्य में है। जैसे—"यह कहिकै चले तितने सूत्रधार आइ आसीर्वाद दै कै बोल्यौ"। प्रबोध-चन्दोदय नाटक की खूबी यही है कि यह एक भावात्मक नाटक है, जिसमें मोह, क्रोध, आदि प्रवृत्तियों को पात्र बनाकर उपस्थित किया गया है। वस्तुतः इस प्रकार के नाटक लिखने की भारतीय परम्परा यहीं से शुरू होती है, जिसमें नाटककार देव के 'देवमाया प्रपंच' से लेकर भारतेन्दु के 'भारत दुर्दशा', प्रसाद के 'कामना' तथा पन्त के 'ज्योत्स्ना' तक के अनेक हिन्दी-नाटक भी आ जाते हैं।

नेवाज ने १६८० में शाहजादा आजमशाह की आज्ञा से शकुन्तला नाटक के आख्यानक को ब्रजभाषा-पद्य में लिखा, जिसमें दोहे, चौपाई, सवैये आदि अनेक प्रकार के छंद व्यवहार में लाये गये। इसी तरह रघुराय नागर का 'सभासार' (१७०० ई०), लच्छिराम का 'करुणाभरण' (१७१५ ई०) आदि तथाकथित नाटक भी उपलब्ध होते हैं।

यदि उपर्युक्त नाटकों को हिन्दी के नाटक मानें ही तो प्राप्त सामग्रियों के आधार पर हम निर्विवाद रूप से कह सकते हैं कि मिथिला में लिखे गये 'किरतनिया

नाटक' हिन्दी के सबसे पुराने नाटक हैं। पश्चिमी क्षेत्र से बहुत पहले हिन्दी के पूर्वी क्षेत्रों में ऐसे अनेक प्रयोग किये गये, जिनमें ग्रामीण नटों की परिधि को दृष्टि में रखकर अभिनय की आवश्यकताओं की पूर्त्ति का ध्यान रखा गया। मैथिल अपनी संस्कृति छोड़ना नहीं चाहते थे, साथ ही उन्हें अपनी मातृभाषा का भी खयाल था, अतः सभी रचनाएँ उभयपक्षीय हुईं। इन नाटकों की विशेषता यह थी कि निर्देश और कथोपकथन में संस्कृत और कभी-कभी प्राकृतिक भाषा का प्रयोग होता था। शेष बातें मैथिली गीतों और दोहों में कही जाती थीं। गद्य का सर्वथा अभाव था, यहाँ तक कि युद्धों आदि के वर्णन भी पद्य में ही हुआ करते थे। इस परंपरा में सबसे पहला नाटक विद्यापति का ही लिखा है— 'गोरक्ष विजय नाटक'। यह महाराज शिव सिंह के आदेश से १५ वीं शताब्दी के प्रथमार्द्ध में लिखा गया था। इसमें सभी जगहों पर तो संस्कृत का ही प्रयोग किया गया है, सिर्फ गीत मैथिली में हैं। इसी तरह गोविन्द का 'नल चरित नाटक', रामदास झा की 'आनंद विजयनाटिका', देवानंद का 'उषाहरण', और उमापति उपाध्याय का 'पारिजातहरण' आदि अनेक नाटक प्राप्त होते हैं।

दसवीं शताब्दी के पश्चात संस्कृत नाटकों में ह्रासोन्मुखता आ गयी थी। मौलिकता की दृष्टि से तो यह काल दरिद्र है ही, परंपरा-निर्वाह की दृष्टि से भी इस काल के नाटककार असमर्थ थे। इस काल में सब के सब प्राणहीन नाटक लिखे गये, यहाँ तक कि उल्लेखनीय नाटककारों (राजशेखर, क्षमीश्वर आदि) की कृतियों में भी नाटकीय तत्त्वों का पूर्ण अभाव रहा। इस काल के प्रायः सभी नाटकों में कथानक की शिथिलता, वर्णनात्मक कविताओं और प्रगीत मुक्तकों की बहुलता मिलती है। हिन्दी के नाटककारों को संस्कृत की यही पिछली परंपरा विरासत में मिली थी। मुसलमानों के स्थापित होने पर एक अस्थिरता और भागदौड़ का युग शुरू हुआ। सोलहवीं शताब्दी में संतों ने हमारी जड़ता को गहरा धक्का तो दिया पर उसका रूप सर्वांशतः सांप्रदायिक ही रहा। इन आन्दोलनों ने जनता को रामलीला, रासलीला, बंगाल की यात्रा और गंभीरा, महाराष्ट्र के ललित, गुजरात की भवाई और मिथिला के किरतनिया नाटकों के रूप जन-नाट्य-

शालाएँ दीं। रीतिकाल तक आते-आते हमारी चिन्तनहीनता इस हद तक पहुँच चुकी थी कि संस्कृत नाटकों की पिछली परंपरा का भी प्रेरणा-स्रोत सूख गया।

आधुनिक :—पाश्चात्य विचारों के संपर्क में आने पर जीवन के प्रति एक नया दृष्टिकोण मिला। अंग्रेजों का प्रारंभिक रूप सर्वथा व्यापारिक था, इनकी देखा-देखी पारसी-वर्ग भी इस दिशा में काफी आगे बढ़ा और धनोपार्जन के नये-नये हथकंडे इस्तमाल किये गये। पारसी-थियेटरों की स्थापना हुई जिनमें अधिकतर शेक्सपियर आदि विदेशी लेखकों के रोमांटिक ड्रामा ही प्रस्तुत किये गये। पारसी-रंगमंच के लिए लिखित हिन्दी के सस्ते नाटक हमारी अभिनय की भूख मिटाने को कूड़ा-कर्कट लेकर उपस्थित हुए। ये नाटक सस्ती नीति के बल पर समाज-सुधार, धर्म, राष्ट्रीयता आदि के भोंडे उपदेश देते थे। परंतु इसलिए कि इनका उद्देश्य शत प्रतिशत व्यावसायिक ही था, ये अधिक-से-अधिक जनता की रुचि का प्रसादन करते थे, परिष्कार नहीं। श्री नारायण प्रसाद बेताब, राधेश्याम कथावाचक, आगा हश्र कश्मीरी आदि इस युग के विशिष्ट नाटककार हुए। इन्होंने जहाँ हिन्दी-नाटकों को अच्छा या बुरा एक स्टेज दिया, वहीं उनकी रुचि को बाद चलकर इतना विकृत कर दिया कि डी० एल० राय और शेक्सपियर आदि के नाटकों में भी प्रहसन जोड़े जाने लगे। जोकर इन नाटकों का आवश्यक पात्र था। इनमें गीतों और गजलों की भरमार रहती थी, गद्य भी तुकांत ही हुआ करता था। कथोपकथन का रूप इस प्रकार का था—

एक पात्र — शक्ले-हैवान !
दूसरा पात्र — बेईमान !
ए० पा० — चोर !
दू० पा० — सीनाजोर !
ए० पा० — कंजूस !
दू० पा० — मक्खीचूस !
ए० पा० — मनहूस !

दू० पा० — उस्तखद्दूस !

ए० पा० — विलायती बिल्ली !

दू० पा० — हिन्दुस्तानी तिल्ली !

यह कथोपकथन चल ही रहा था कि मालिन के वेश में एक छोकरा गाते हुए प्रवेश करता है—

मालिन आयी बीकानेर से, अजमेर से—तरकारी ले लो !
सुआ वेचूँ, पालक बेचूँ, और बेचूँ चौलाई !
बीच बाजार में डंडी मारूँ तो मालन की जाई !—तरकारी ले लो !

श्रीउपेन्द्रनाथ 'अश्क' तत्कालीन रंगमंच की चर्चा करते हुए लिखते हैं—"डंडी मारूँ गाते हुए वह (मालिन के वेश में छोकरा) कुछ इस तरह आँख मारता था कि दिल को कुछ होने-सा लगता था। रसिक लोग 'हाय-हाय' कहकर उछल पड़ते और अपने पास बैठे हुए दर्शक से उसी तरह लिपट जाते जैसे वह मालिन ही हो।" यह अवस्था प्रसाद के समय तक कुछ न कुछ थी।

भारतेन्दु का उदय हिन्दी साहित्य के लिए एक असाधारण घटना है। भारतेन्दु के सजग व्यक्तित्व ने जागरण के सभी तत्त्वों को आत्मसात् कर लिया। उन्होंने प्रतिक्रियावादी पारसी रंगमंच के कुप्रभाव से हिन्दी जनता को भरसक मुक्त कर उनकी रुचि के परिष्कार का बीड़ा उठाया। इसके लिए सबसे पहला कार्य उन्होंने यह किया कि अपने नाटकों की कथावस्तु जीवन के विविध क्षेत्रों से ली। किसी नाटक में एकांतिक प्रेम का निरूपण किया तो किसी में समसामयिक सामाजिक तथा धार्मिक समस्याओं का चित्रण, कहीं ऐतिहासिक और पौराणिक वृत्त के आधार पर नाटक का ढाँचा खड़ा किया तो कहीं देश की दुर्दशा का मार्मिक चित्र उपस्थित किया। भारतेन्दु के समय में नाटकों के सीमित विषयों की दीवारें टूट गयीं और विषय-भूमि को पूरा विस्तार मिला। 'नीलदेवी' ऐसे नाटकों में इतिहास और पुराण की उज्ज्वल गाथाएँ हैं, जिनके आलोक में "पाश्चात्य चकाचौंध से विपथगामिनी आर्य-ललनाएँ अपना मार्ग पहचान सकें।" यह वास्तव में पाश्चात्य संस्कृति के विरोध में भारतीय संस्कृति के जागरण का चिह्न है।

अतीत की स्वस्थ कथाओं और उदात्त चरित्रों से शक्ति-संयम करना ही इनका मुख्य उद्देश्य रहा। 'सत्य हरिश्चन्द्र' की भूमिका में भारतेन्दु ने लिखा—"यदि पाठक के चरित्र में इससे कुछ भी सुधार हुआ तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूँगा।" उस युग में प्रताप नारायण मिश्र का 'हठी हम्मीर,' राधाकृष्ण दास का 'महाराणा प्रताप,' निवासदास का 'संयोगिता-स्यंवर' आदि ऐतिहासिक नाटक मूलतः उद्बोधनात्मक हैं। भारतेन्दु के नाटकों की पहली कोटि यही है—उद्बोधन।

दूसरी विशेषता समाज-सुधार भी है। सामाजिक समस्याओं को नाटक का विषय बनाया गया। 'प्रेमजोगिनी' में भारतेन्दु ने अनेक प्रकार की सामाजिक समस्याओं का संकेत किया। बाल-विवाह, स्त्री-असहायता, गोबध, पाश्चात्य आचार-नीति, आदि समस्याओं को अन्य नाटककारों ने सुधार की दृष्टि से अपने नाटकों में रखा। राधाकृष्णदास का 'दुःखिनीवाला,' प्रतापनायण मिश्र का 'गो-संकट' आदि ऐसी ही नाटक हैं।

राष्ट्र-प्रेम इस युग के नाटकों की तीसरी विशेषता है। 'भारतेन्दु' ने 'भारत-दुर्दशा' में राष्ट्र-प्रेम की भावना जगायी। उसके प्रारंभ में ही यह निवेदन कर दिया गया कि—"अंगरेज-राज सुख-साज सजे सब भारी, पर सब धन विदेश चलिजात यहै वड़ ख्वारी।" दूसरे अंक में भारत कहता है—"परमेसर बैकुंठ में और राज राजेश्वरी सात समुद्र पार, अब मेरी कौन दशा होगी।" पाँचवें अंक में कुछ लोग भारत-दुर्दशा से बचने की मंत्रणा करते हैं पर डिसलायल्टी का भय उनकी योजनाओं को कार्य-रूप में परिणत नहीं होने देना चाहता। अंत में भारत-भाग्य भी परमात्मा और विक्टोरिया की गुहार लगा कर विदा होता है, और भयानक निराशा में नाटक का पर्यवसान होता है। भारतेन्दु तथा इस काल के अन्य कवियों की कविताओं में राष्ट्र-प्रेम और शासक-प्रेम का जो विरोधाभास दिखायी पड़ता है, वह नाटकों में भी उसी रूप में चित्रित हुआ है। 'प्रेमघन' के 'भारत-सौभाग्य' में भी नायक भारत, प्रतिनायक 'बद एक वाले हिन्द' का आश्रय ग्रहण करने में ही अपना सौभाग्य समझता है। अंग्रेजों के सद्भाव की माया में राष्ट्र-प्रेम अंगड़ाई ले-लेकर फँस जाता है। उस समय कांग्रेस की भी यही

नीति थी—डोमिनियन स्टेट्स अरण्डर द ब्रिटिश क्राउन। इन नाटकों में देश की राजनैतिक, आर्थिक, तथा सामाजिक व्यवस्था का भावात्मक चित्र उपस्थित किया गया है।

उस युग के नाटकों की चौथी विशेषता—जीवन और समाज की असंगतियों को लेकर चुटीले व्यंग्य और झकझोर देनेवाले प्रहसनों का लिखना है। भारतेन्दु की 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में मांसाहारी के तर्कों पर व्यंग्य है, 'अंधेरनगरी' सामंतशाही पर करारी चोट है। बाल-कृष्ण भट्ट का 'शिक्षादान,' प्रतापनारायण मिश्र का 'कलिकौतुक रूप' आदि नाटक इसी कोटि में आते हैं।

भारतेन्दु के नाटकों में शैली, संस्कृत नाटकों की पद्धति पर है। प्रारम्भ नान्दी पाठ से होता है, समाप्ति भरत-वाक्य पर। कुछ नाटकों में अंकावतार और विष्कंभक की योजना भी मिलेगी। चन्द्रावती में स्वगत बहुत अधिक है। पारसी रंगमंच का भी प्रभाव है। भारतेन्दु युगीन नाटकों का विकास जितना विषय की दृष्टि से हुआ, उतना शैली की दृष्टि से नहीं। भारतेन्दु के अतिरिक्त दूसरे लेखकों के कथानक अत्यन्त शिथिल हैं, चरित्रों का व्तक्तित्व भी नाटककारों के व्यक्तित्व से लिपट कर सठिया-सा गया है। रीतिकालीन कविता के प्रभाव से चमत्कार-प्रदर्शन की भी प्रवृत्ति है।

सुधार-युग का अंतराल—द्विवेदी-युग के प्रारंभ में आर्य समाज, ब्रह्म-समाज आदि का प्रभाव है, अंत में गांधीजी के सत्याग्रह की जय-घोषणा। इस युग के लेखकों ने वस्तु और शैली—दोनों दृष्टियों से साहित्य में सुधार लाने की चेष्टा की। उच्च नैतिकता और सात्त्विकता का स्वर सब से ऊँचा रहा। गद्य-पद्य की भाषा का झगड़ा अलग तूल पकड़े हुआ था, जिसके चलते खड़ी-बोली-आंदोलन को बड़ा बल मिला। प्रवृत्ति को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि कमो-वेश भारतेन्दु-युग की ही प्रवृत्तियाँ इस युग में ही चलती रहीं। पर, भारतेन्दु-युग की तुलना में, इस काल में ऐतिहासिक नाटक सबसे अधिक लिखे गये। उनके नायक जीवन पर सात्त्विक प्रभाव डालने वाले चुने गये। जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी का 'तुलसीदास', उग्र का 'महात्मा ईसा', वियोगीहरि का 'प्रबुद्धयामुने', मिश्र बंधु का

'शिवाजी', 'चाणक्य' आदि इस युग के विशिष्ट नाटक हैं। प्रेमचंद ने 'कर्बला' लिख कर मुसलमानी संस्कृति पर सहानुभूति पूर्वक विचार किया। सामाजिक नाटकों के लिए बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, विधवा दशा, पाश्चात्य संस्कृति के कुप्रभाव आदि ही विषय रहे। प्रहसन के लिए क्षेत्र का विस्तार तो हुआ पर व्यंग्य की नोंक भोथी पड़ गयी। बंगला के प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटककार डी० एल० राय के ऐतिहासिक नाटकों का धड़ल्ले से अनुवाद हुआ जो अत्यधिक प्रचलित हुए। उस काल में अभिनय के लिए यदि नाटक चुने जाते थे तो डी० एल० राय के ऐतिहासिक नाटक या जी० पी० श्रीवास्तव के प्रहसन।

प्रसाद-काल—ऐसे ही समय प्रसाद जी आये। इनमें भारतेन्दु की सर्व-ग्राहिणी प्रतिभा और डी० एल० राय के ऐतिहासिक ज्ञान का मणिकांचन योग हुआ। प्रसाद बीसवीं शताब्दी के अत्यन्त जागरूक कलाकारों में से एक थे। इन्हें भारतेन्दु से अधिक सूक्ष्म सामाजिक दृष्टि और डी० एल० राय से अधिक दूर तक के अतीत का तुलनात्मक ऐतिहासिक ज्ञान प्राप्त था। यही कारण है कि अपने नाटकों में इन्होंने न तो अपनी सामाजिक समस्याओं की चर्चा की और न तो भावुक-रोमांटिक ऐतिहासिक तथ्यों का सन्निवेश किया। नतीजा यह हुआ कि प्रसाद के नाटक अधिक गंभीर और दार्शनिक बन गये। सामाजिक विकृतियाँ और जीवन के छोटे-मोटे प्रश्न उतनी तीव्रता से नहीं उपस्थित हो सके। वे वर्त्तमान समस्याओं का निदान अतीत के पृष्ठों में खोजा करते थे। दूसरी ओर, जहाँ उन्होंने हिन्दी नाटकों को उच्च साहित्यिक गरिमा प्रदान की, नवीन शैली से उनका श्रृंगार किया; वहाँ वे नाटकों की नयी दिशा के निर्देशक नहीं बन सके। उनके नाटक पठनीय बने, अभिनेय नहीं। पर, एक महत्त्वपूर्ण कार्य उन्होंने किया—वह था, नाटकीय पात्रों को नाटककार की चारित्रिक कुहेलिका से मुक्त करना। प्रसाद में हिन्दी नाटकों को सर्वप्रथम स्वतंत्र व्यक्तित्व मिला। उन्होंने चरित्र-निरूपण पर विशेष जोर देकर अब तक चली आती हुई रस-प्रधान धारा को एक जबर्दस्त मोड़ दिया।

प्रसाद ने सबसे अधिक ऐतिहासिक नाटक लिखे। विशाख की भूमिका में अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए उन्होंने तीन कारणों का जिक्र किया है—

(१) ऐतिहासिक घटनाएँ हमारे आदर्श को संघटित करने के लिए लाभदायक हैं, (२) वे हमारी सांस्कृतिक परंपरा के अनुकूल हैं और (३) उनमें उन परिस्थितियों का रूप मालूम पड़ता है, जिन्होंने हमें आज की पतनावस्था में ला पटका है। इन्हीं उद्देश्यों के कारण उनके ऐतिहासिक नाटकों में हमारे अतीत, वर्त्तमान और बहुत हद तक भविष्य की भी सूक्ष्म अभिव्यक्ति हुई। उनमें हमारे अतीत की उज्ज्वलता, वर्त्तमान का अंधकार, और भविष्य की आशा-किरण--तीनों प्राप्त होते हैं। उनमें देशभक्ति, राष्ट्रीयता, एकता, आशावादिता, तथा दुःख-सुख का एक दूसरे से गुँथा हुआ अपरिहार्य उद्देश्य मिलता है।

हिन्दी-रंगमंच की दृष्टि से प्रसाद के नाटक शायद सौ साल पहले आये। प्रसाद ने वस्तुतः रंगमंच के लिए नाटक लिखे ही नहीं। वे कहा करते थे—'रंगमंच के सम्बन्ध में यह भारी भ्रम है कि नाटक रंगमंच के लिए लिखे जायँ। प्रयत्न तो यह होना चाहिये कि नाटक के लिए रंगमंच हों, जो व्यावहारिक है। इसी तरह नाटकों की भाषा के सम्बन्ध में भी प्रसादजी के अपने मत थे। वह पात्रोचित भाषा के पक्ष में नहीं, पात्रों के भावोचित, संस्कारोचित और विचारोचित भाषा के पक्ष में थे। उनकी भाषा का सब से बड़ा महत्त्व यह है कि वह हमें आज की विपन्नावस्था, उसके पहले का मुस्लिम युग और तब उसके भी पहले की आर्य-संस्कृति के युग में, हमें एकबारगी पहुँचा देती है—और यही उसकी सार्थकता है।

इस युग के अन्य ऐतिहासिक नाटककारों में उदयशंकर भट्ट, हरिकृष्ण प्रेमी, उग्र, गोविन्दवल्लभ पन्त तथा सेठ गोविन्द दास के नाम आते हैं। उदयशंकर भट्ट ने प्रारम्भिक मध्यकालीन इतिहास, और प्रेमी ने मध्योत्तर कालीन इतिहास को अपना विषय बनाया। उदयशंकर भट्ट में उस युग की हिन्दू मानवता तथा प्रेमी में युगानुरूप हिन्दू-मुस्लिम-एकता का स्वर अलापा गया। उदयशंकर में काव्य अधिक है, प्रेमी में हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य का आदर्श अधिक। उग्र का महात्मा ईसा, रंगमंच की दृष्टि से सफल, व्यंग्योक्तियों से पूर्ण और ऐतिहासिकता की दृष्टि से त्रुटिपूर्ण है। सामाजिक नाटक लिखने में सर्वोपरि अश्क हैं।

प्रसादोत्तर-काल (समस्या-नाटक) :—यूरोप के इब्सन और शॉ के प्रभाव से अब नाटकों में राष्ट्र, समाज और परिवार की समस्याएँ ज्यादा उभरकर

आने लगीं। हिन्दी के नये खेवे के नाटककार समाज की पिटी-पिटाई लकीर तथा रोमानी कल्पनाओं पर प्रबल आघात करने लगे। नायक की धीरोदात्तता का तिरस्कार हुआ और विषयवस्तु सूक्ष्म हो गयी। एक शब्द में—नाटकों का स्तर सर्वथा बौद्धिक बन गया। लक्ष्मीनारायण मिश्र इस कोटि के अग्रणी नाटककार माने जाते हैं। आपने प्रारम्भ में कई समस्या-नाटक लिखे, शॉ का ढर्रा अपनाया; फिर भी शॉ की तलस्पर्शिनी दृष्टि, प्रतिपादन का ढंग और निर्मम व्यंग्य मिश्रजी में नहीं आ पाये। मिश्रजी शॉ की तरह परम्परा पर चोट नहीं करते, बौद्धिक स्तर को अनिवार्य रूपेण अंत तक बनाये नहीं रख पाते। इतना पर भी यह मानना पड़ेगा कि मिश्रजी, प्रसाद के बाद हिन्दी नाटक की एक महत्त्वपूर्ण प्रतिभा हैं। यह महत्त्व शैली के क्षेत्र में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। शॉ के नाटकों की तरह इन्होंने भी अपने नाटकों में तीन अंक ही रखे, गीतों को जगह नहीं दी, और स्थान की एकता पर बड़ा जोर दिया। सम्वाद, छोटे-छोटे, नाटकीय स्फूर्त्ति से पूर्ण और तीव्र लिखे गये।

———

नाटककार मिश्र, तथा हिन्दी नाट्य-साहित्य में उनका स्थान

वर्त्तमान युग उलझी हुई समस्याओं और उलझे हुये विद्वानों का युग है। एक युग था कि हम अपनी समस्याओं का समाधान अतीत में खोजते थे, पर आज के इस वैषम्यपूर्ण जीवन ने हमें यह पाठ पढ़ाया है कि अतीत के सदा प्रसन्न पारिजात की शाखाओं तले शरण लेने की अपेक्षा श्रेयस्कर यह है कि हम अपने यथार्थ जीवन के क्षतविक्षत अस्थि-पंजरों को ही देखें और उन्हें ही अपने शोधों के नये रसायनों से धो-पोछकर सुन्दर बनाने का उपक्रम करें। इन्हीं आदर्शों को लेकर यूरोप में इब्सन और शॉ प्रभृति नाटककारों ने समस्या-नाटकों को जन्म दिया। हिन्दी में, वर्त्तमान समाज के यथार्थ जीवन की उलझी-सुलझी समस्याओं को लेकर नाटक लिखने का सर्व प्रथम प्रयास मिश्रजी ने किया। इस तरह आपने हिन्दी नाटकों को विषयवस्तु और शैली के क्षेत्रों में एक नया दिशा-संकेत दिया। यद्यपि आपने 'अशोक' (१६३६ ई०), गरुड़ध्वज (१६४६ ई०) और वत्सराज (१६५० ई०) नामक तीन ऐतिहासिक नाटक भी लिखे हैं, पर हिन्दी में आपका महत्त्वपूर्ण स्थान समस्या-नाटकों के चलते ही है। इसलिये यह आवश्यक है कि मिश्रजी को पूरी तरह समझने के लिए हम उनके समस्या-नाटकों पर ही पहले विचार करें।

समस्या नाटक उन नाटकों को कहते हैं जिनमें बुद्धिवाद के आधार पर समाज, परिवार, कुटुम्ब, राष्ट्र और व्यक्ति की समस्याओं के निदान उपस्थित करने की निरपेक्ष और पूर्वाग्रह-रहित चेष्टा की जाती है। वहाँ कोरी भावुकता को सर्वथा निष्कासन, और रोमांस को देश निकाला दे दिया जाता है। मिश्रजी ऐसे ही नाटकों के सफल नाटककार हैं। अपने 'मुक्ति का रहस्य' नामक नाटक की कैफियत में आपने १६३२ में ही लिखा था—"लेखक की सबसे बड़ी चीज उसकी भावुकता नहीं, ईमानदारी है—वह साधक है, दलाल नहीं।......हमारे

अधिकांश लेखक जिन्दगी की ओर से आँखें बंद करके कल्पना और भावुकता का मोह पैदाकर जिस नये जगत् का निर्माण कर रहे हैं, उसमें जिन्दगी की धड़कन नहीं है। मनुष्य का रक्त-मांस भी नहीं मिलता। शायद मोम के रंगे पुतलों से लेखक जो चाहता है, कराता है। लेखक जब चाहता है, हँस देता है, रो देता है, व्याख्यान देने लगता है—या प्रेम करने लगता है—उसकी अपनी कोई सत्ता नहीं। कल्पना का जीव कल्पना से आगे नहीं बढ़ता।"

—मैं बुद्धिवादी क्यों हूँ"—

समस्या-नाटकों के रचयिता की पहली विशेषता है—बुद्धिजीवी होना, यानी चिंतक होना। नाटकों के माध्यम से वे अपनी उस चिन्ता-धारा को ही व्यक्त करते हैं जो शत प्रतिशत परंपराओं को ध्वंस करनेवाली, पाठकों के गाल पर कस कर तमाचा मारनेवाली और पुरानी मान्यताओं एवं जीवन मूल्यों को ललकारनेवाली ही होती हैं। समस्या नाटककार हमारे विचारों को प्रतिक्षण उद्बुद्ध करता हुआ चलेगा। इस विशिष्टता को ध्यान में रखने के कारण कई दोष भी अपने-आप घुस आते हैं। ऐसे नाटकों में समस्याओं का निरूपण तो हो जाता है पर सबल चरित्र-सृष्टि नहीं हो पाती। दूसरे कथोपकथन जोरदार हो जाता है, जिसके चलते अन्य नाटकीय तत्त्वों की अवहेलना की जाती है। समस्या-नाटकों की दूसरी विशेषता यह है कि किसी एक समस्या पर व्यापक, सर्वांगीण और सर्वतोमुखी विचार प्रस्तुत किया जाता है। एक ही समस्या पर विचारों के इस घनत्व से नाटक को गरिमा प्राप्त होती है। पर इसके दोषों में एक प्रधान दोष यह आ जाता है कि समस्या की एकता और विचारों के घनत्व का निर्वाह नहीं हो पाता। इतनी समस्याएँ एक दूसरे को भेदती हुई, उपस्थित कर दी जाती हैं कि पाठक उन्हीं में उलझकर रह जाया करता है, और यद्यपि विचार ऊपर से तो बौद्धिक ज्ञात होते हैं, पर भीतर से वे प्रायः भावात्मक और आदर्शवादी हो जाते हैं। समस्या-नाटकों की तीसरी विशेषता यह है कि उनकी शैली अतिशय यथार्थवादी होती है। स्वाभाविकता का निर्वाह, लघु संवाद, थोड़े अंक और दृश्य, व्यंग्य-विनोद तथा अत्यधिक प्रत्युत्पन्नमतित्व से पूर्ण

शैली इसके अपरिहार्य अंग हैं। इस विशेषता में भी दोष घुस आते हैं। स्वाभाविकता के निर्वाह के नाम पर अनैतिक आचरण, लम्बे कथोपकथन और भोंडे परिहास तथा भोथे व्यंग्य आ जाने से नाटक दोषपूर्ण बन जाता है।

मिश्रजी हिन्दी के सर्वप्रथम (संभवतः) समस्यामूलक नाटककार हैं, इसलिए इनमें समस्या-नाटकों की सभी विशेषताएँ अपने यत्किंचित् दोषों के साथ विद्यमान हैं। मिश्रजी की प्रारम्भिक कृतियाँ प्रसादजी से प्रभावित हैं और वे कुछ अंशों में परम्परावादी भी सिद्ध होते हैं। वे एक ओर जहाँ नायकों का धीरोदात्त होना आवश्यक मानते हैं वहीं शास्त्रीय-शैली को अंगीकृत करना भी। वे अपने नाटकों में अनेक समस्याओं को समेटने की कोशिश करते हैं जिसके चलते यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि उनके किस नाटक की कौन-सी प्रमुख समस्या है और उसका निर्दिष्ट और पूर्ण निर्णीत समाधान क्या है। कहीं-कहीं मनोवृत्ति ही समस्या बन जाती है जो अनवांछित है। वे तर्कों की योजना कर बुद्धिवादी घोषित करने का प्रयत्न करते हैं पर सर्वत्र, जीवन के प्रति वैज्ञानिक, बौद्धिक और सर्वथा निरपेक्ष दृष्टिकोण नहीं प्रस्तुत कर पाते। समस्याओं की आदर्शवादी और भौतिक व्याख्या पर ही पूर्णविराम डाल देते हैं।

फलतः मिश्रजी पूर्णतः यथार्थवादी नहीं, मात्र एक यथार्थोन्मुख नाटककार ही रह जाते हैं; विचारों के क्षेत्र में वे बुद्धिवादी नहीं, परम्परावादी और भावनावादी ही सिद्ध होते हैं। अधिक-से-अधिक हम उन्हें नयी मान्यताओं की खोज में व्याकुल, अपने ही संस्कारों से जूझते हुए एक पुनरुत्थानवादी कलाकार भर कह सकते हैं।

पर शैली की दृष्टि से विचार करने पर मिश्रजी अवश्यमेव प्रसाद के बाद हिन्दी नाटकों के दूसरे प्रभावशाली और महत्त्वपूर्ण मील-स्तम्भ सिद्ध होते हैं। उनके नाटक जितने ही स्वाभाविक हैं उतने ही प्रभावपूर्ण। इनसे अधिक स्वाभाविकता से परिचय अभी तक हिन्दी नाटकों ने स्थापित नहीं किया है। वार्तालाप पर्याप्त ओजस्वी और मार्मिक बन पड़े हैं तथा विधान अतिशय रंगमंचीय एवं अभिनेयात्मकता को दृष्टि में रखकर तैयार किये गये हैं। आपके सभी नाटक रंगमंच के उपयुक्त हैं।

कालक्रमानुसार मिश्रजी की निम्नलिखित प्रकाशित रचनाएँ हैं—

१. संन्यासी........................ १९३१ ई०
२. राक्षस का मंदिर........... १९३१ ई०
३. मुक्ति का रहस्य.............. १९३२ ई०
४. सिन्दूर की होली.......... १९३४ ई०
५. राजयोग........................ १९३४ ई०
६. आधीरात........................१९३७ ई०
७. अशोक...........................१९३९ ई०
८. नारद की वीणा..............१९४५ ई०
९. गरुड़ध्वज......................१९४६ ई०
१०. वत्सराज...................... १९५० ई०
११. चक्रव्यूह...................... १९५४ ई०
१२. कावेरी में कमल.........१९५५ ई०
१३. कवि भारतेन्दु.............. १९५५ ई०

इनमें 'कावेरी और कमल' को एकांकी ही माना जा सकता है, है भी। इनके अतिरिक्त मिश्रजी ने कई एकांकी नाटक भी लिखे हैं। उल्लेख मिलता है कि आपने बहुत पहले 'समाज के स्तम्भ' नामक कोई रचना की थी, शायद वह अनुवादित थी। 'गुड़िया का घर' नामक प्रकाशित रचना का भी उल्लेख मिलता है।

अपने प्रारम्भिक नाटकों में मिश्रजी, कम-से-कम अपनी दृष्टि में एक बुद्धिवादी बनकर ही आये थे और उनमें 'प्रसाद' शैली के नाटकों के विरोध में एक प्रतिक्रिया का भाव भी था। उन्होंने स्पष्टतः घोषणा की कि—"बुद्धिवाद किसी तरह का हो, किसी कोटि का हो, समाज या साहित्य की हानि नहीं कर सकता। बुद्धिवाद में शूगर-कोटेड कुनैन की व्यवस्था है ही नहीं। वह तो तीक्ष्ण सत्य है। उसका घाव गहरा तो होता है, लेकिन अंग-भंग करने के लिए नहीं, मवाद निकालने के लिए, हमारी प्रसुप्त चेतना को जगाकर हमारे भीतर नवीन

जीवन—नवीन स्फूर्ति पैदा करने के लिए।" पुनः बुद्धिवाद के प्रति अविश्वास और सन्देह की चर्चा करते हुए आपने लिखा—"**बुद्धिवाद स्वतः अनन्त विश्वास है। इसमें भ्रम और मिथ्या को स्थान नहीं।**" अपने पात्रों के मुख से स्थान-स्थान पर आपने बुद्धिवादी की ही डुग्गी पिटवायी है—"**संसार की समस्याएं, जिनके लिए आजकल इतना शोर मचा है, तराजू के पलड़े पर नहीं सुलझायी जा सकतीं, वे पैदा हुई हैं बुद्धि से और उनका उत्तर भी बुद्धि ही से मिलेगा।**" —'सिन्दूर की होली' में मनोरमा। दूसरी ओर आपने प्रसादजी पर भी फब्तियाँ कसी हैं। आप प्रसादजी से दोनों ही क्षेत्रों में असहमत मालूम पड़ते हैं। न तो इन्हें प्रसादजी की वस्तु अच्छी लगती है और न शैली। सबसे अधिक असहमत होने का कारण प्रसादजी के नाटकों में पात्रों का बाहुल्य है। यह ठीक है कि मिश्रजी के नाटकों में प्रसाद की तरह पात्र-बाहुल्य नहीं है, और न उनकी शैली काव्यात्मक ही है; फिर भी मिश्रजी बुद्धिवादी होते हुए भी प्रसाद-सदृश भावुकता से पीछा नहीं छुड़ा सके हैं। यदि हम एक-एक कर उनके प्रधान नाटकों की चर्चा करें तो यह बात सिद्ध हो जायगी।

'मुक्ति का रहस्य' मिश्रजी का वह पहला नाटक है जिसमें आप आसनस्थ-से दीखते हैं। इसी पुस्तक में आपने 'मैं बुद्धिवादी क्यों हूँ' शीर्षक 'कैफियत' भी लिखी है, तथा अपने बुद्धिवाद की विजय प्रदर्शित करने का प्रयत्न भी किया है। दूसरा प्रधान नाटक 'राजयोग' है जिसमें बुद्धिवाद के ही द्वारा प्रेम-समस्या का निदान सोचा गया है। इन दोनों नाटकों को पढ़ चुकने के बाद कोई भी निष्पक्ष आलोचक यह स्वीकार करेगा कि मिश्रजी भावुकता और अपने ब्राह्मणोचित संस्कारों से पिण्ड नहीं छुड़ा सके हैं। आशादेवी के सम्वाद में कूट-कूटकर भावुकता भरी हुई है और उनके आत्मसमर्पण में भारतीय नारी-समाज का परम्परागत संस्कार बोल रहा है। 'राजयोग' में यह बुद्धिवाद अधिक तर्कसंगत दीखता है। नरेन्द्र के इस कथन में वस्तुतः बुद्धिवादी सत्य निहित है—"स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध किसी आध्यात्मिक आधार पर नहीं, नितान्त भौतिक है। उसे और भी आकर्षक सम्मोहक और विनाशक बनाने के लिए आध्यात्मिक रंग चढ़ाया जाता है।"

नरेन्द्र भावुकता के आवेशों से मुक्ति पाकर चंपा का त्याग इसलिए कर देता है कि तीन-तीन व्यक्तियों के जीवन पर प्रश्नवाचक चिह्न लग जाते हैं। इससे अच्छा यह है कि तीनों अपना स्वतंत्र जीवन बितायें और पुराने सम्बन्धों को एकबारगी भूलकर अपने जीवन को सुन्दर बनाने के लिए नये सम्बन्ध स्थापित करें--"हम सब लोगों का नया जन्म हो, नयी परिस्थिति और नयी जगह में हमलोग इस तरह मिलें जैसे पहले-पहल मिल रहे हों।"

पर, इस समस्या का दूसरा पहलू भी है। 'मुक्ति का रहस्य' में आशादेवी, उमाशंकर के प्रति अपने अतिशय प्यार के चलते उमाशंकर की पत्नी को विष देकर मार डालती है। उधर त्रिभुवननाथ यह समझकर कि उमाशंकर आशादेवी को ग्रहण न करेगा उसका उपभोग करता है। आशादेवी उमाशंकर को चाहती थीं, पर उन्हें पत्नी बन जाना पड़ा त्रिभुवननाथ की। निदान यह निकला कि छल-कपट से किसी भी नारी का एकबार उपभोग कर लेने से उसे बाध्य होकर उसकी पत्नी बन जाना पड़ेगा। 'राजयोग' में भी चंपा न चाहते हुए भी शत्रु-सूदन से बँध गयी और उसे घुल-घुलकर आत्मसंतोष करना पड़ा। दोनों ही समाधान, समस्या का उचित निदान नहीं हैं। नारी की पवित्रता--एक छलना है, मूढ़ समाज यह समझता है कि अपवित्र नारी वेश्या बन सकती है, पत्नी नहीं। व्यक्ति की स्वतंत्रता यहाँ कहाँ रही? यदि मिश्रजी यह समाधान प्रस्तुत करते कि आशादेवी की विवशता को समझते हुये भी उमाशंकर उसे ग्रहण कर लेता है तो अधिक तर्क-सम्मत, समाज-कल्याणकारी और बुद्धिवाद के अनुसार होता। यही हालत 'सिन्दूर की होली' में भी है।

संवाद, तर्कों से पूर्ण और समस्या की विवेचना से भरे रहते हैं। पाठक उनसे अभिभूत नहीं होता।

—— ——

मिश्रजी की नाट्यकला

मिश्रजी नाटकीय वस्तु और दृष्टिकोण में भले ही कुछ नवीनता और मौलिकता नहीं ला सके हों, पर विधान और शैली में मौलिक न होते हुए भी वे नवीन हैं। जहाँ तक कलापक्ष का प्रश्न है, उनके नाटक बहुत अधिक प्रभावशाली और स्वाभाविक माने जाते हैं।

आपके नाटकों में व्यापार या क्रियाशीलता का प्राधान्य नहीं है, इसीसे आपके नाटक प्रसरण से अधिक संकोचन की ओर उन्मुख हैं। उनका रूप एक प्रकार की गोष्ठी का बन जाता है जहाँ दो-चार पात्र महत्त्वपूर्ण-अमहत्त्वपूर्ण विषयों या समस्याओं पर गप-शप करते-से दीखते हैं। प्रसादजी के विरोध में उपस्थित होने के कारण मिश्रजी ने जहाँ नाटकीय कार्य बाहुल्य को कम-से-कम कर दिया, वहाँ व्यापार के अभाव को प्रदर्शित करने के सिलसिले में वे सूच्य की अंतिम सीमा तक पहुँच गये। उनके पात्र हाथ-पैर कम चलाते हैं, बातें बहुत करते हैं। व्यापार का सम्बन्ध परोक्ष ही रहता है। वत्सराज में, जो कि उनका सर्वश्रेष्ठ ऐतिहासिक नाटक माना जाता है, गतिशील वस्तु-रचना का सर्वथा अभाव है। वस्तु-रचना की क्षति-पूर्त्ति आप समस्याओं और विचारों को उपस्थित कर करते हैं। यद्यपि समस्या और विचार यथार्थ से ही सम्बन्धित रहते हैं, पर शारीरिक और मानसिक क्रियाशीलता न रहने के कारण वे अभिनय में सुस्त (Dull) साबित होते हैं। एक वाक्य में हम कह सकते हैं कि मिश्रजी के नाटक सुपाठ्य और विचारोत्तेजक हैं, रसात्मक नहीं; वे बौद्धिक और संवाद-प्रधान हैं, क्रियात्मक और गत्यात्मक नहीं।

मिश्रजी अपने नाटकों में तीन ही अंक रखते हैं, जिनमें कोई दृश्य-परिवर्त्तन नहीं रहता। यद्यपि कई पात्र बीच-बीच में यदा-कदा आते रहते हैं, पर प्रधान रूप से प्रथम अंक में आये हुए पात्र ही अन्त तक बने रहते हैं। यथार्थवाद के प्रति तीव्र आग्रह रहने के कारण एक अंक में एक ही दृश्य रहता है और वह

लगभग एक घंटे का रहता है। 'वत्सराज' में प्रथम अंक में नायक उदयन प्रारंभ से अन्त तक रंगमंच पर ही रहता है, यही हालत दूसरे और तीसरे अंकों में भी रहती है। उदयन लगभग तीन घंटों तक रंगमंच पर डटा रहता है, अन्य पात्र आते-जाते रहते हैं। इससे नाटककार के इस रचना-कौशल का तो अवश्य ही पता लगता है कि उसने किस प्रकार कथा-संघटन किया है; पर नाटक की गति में क्षिप्रता नहीं रह पाती, उसमें कोल्हू के बैल की चक्करनुमा शिथिलता आ जाती है। दृश्य-परिवर्त्तन से वस्तु-विकास और नाटकीय विधान में गतिशीलता और स्पष्टता आती है, दर्शकों में भी एकरसता नहीं रहती, उन्हें नवीनता का भास होता रहता है, वे आगे बढ़ते हैं। मिश्रजी के नाटकों में दृश्य-परिवर्तन के अभाव के कारण व्यापारिक प्रगति में स्थिरता और निश्चलता आ जाती है। यह ठीक है कि दृश्यांतर-विधान कृत्रिम होता है, पर सारी कला ही कृत्रिम है। कला, कृत्रिम होते हुए भी अकृत्रिम का बोध कराती है। दृश्य-विधान भी वैसा ही होना चाहिये। इसकी क्षतिपूर्त्ति मिश्रजी नाटकों में रंगमंच-सज्जा का विस्तृत विवरण देकर करते हैं।

एक अंक में एक ही दृश्य रखने के कारण अनेक बार पात्रों का परिवर्त्तन आवश्यक हो जाता है। वत्सराज के प्रारंभ में उदयन और वसंतक पन्द्रह पृष्ठों तक वार्तालाप करते रहते हैं, गरुड़ध्वज के प्रथम अंक में पहले तीन-चार भृत्य ११ पन्नों तक गप-शप करते रहते हैं कि बीच में दो-तीन नवयुवतियाँ आ जाती हैं। उनकी बातचीत २६ पन्नों तक चलती है कि कालिदास टपक पड़ते हैं। उनका हास-परिहास ७ पन्नों तक चलता है कि विक्रममित्र का प्रवेश होता है, फिर वे अन्य पात्रों के साथ ८ पृष्ठों तक विचार-विमर्श करते रहते हैं। पात्रों की इस कमी, व्यापार के इस अभाव के चलते, नाटकीयता नहीं रह जाती; उसका स्थान शुष्क गोष्ठी ले लेती है। जब कोई दूसरा पात्र उपस्थित होता है तो पहले के पात्रों को हटाना पड़ता है। वत्सराज में महासेन के रंगमंच पर आ जाने से यह समस्या उपस्थित हो जाती है कि वसंतक को कैसे टरकाया जाय। नाटकीय विधान इतनी चुस्ती की अपेक्षा रखता है कि बिना कारण और प्रयोजन के पात्र तो क्या एक

अन्तर भी नहीं प्रकट हुआ करता । इस प्रकार निष्प्रयोजन निकालने में स्वाभाविकता को हानि पहुँचती है । गरुड़ध्वज में भी यही हाल है, गो कि वह वत्सराज की तरह अस्वाभाविक नहीं बन पाया है, फिर भी निष्प्रयोजन तो है ही । इस प्रकार हम पाते हैं कि मिश्रजी ने दृश्यांतर भले ही न किया हो, पर पात्रों का आना-जाना वे नहीं रोक सके हैं ।

मिश्रजी के नाटकों में अधिकांश कार्य पर्दे के पीछे घटित होता है, पात्र रंगमंच पर उसकी चर्चा करते हैं । व्यापार की यह परोक्षता दर्शकों के लिए उपादेय नहीं सिद्ध होती । 'वत्सराज' में वासवदत्ता का अपहरण रंगमंच पर नहीं दिखाया गया, तीसरे अंक में भी घटना-विवरण न देकर मात्र स्थिति-चित्रण ही किया गया है । 'गरुड़ध्वज' में भी व्यापार की अतिशय कमी है, सिर्फ स्थिति-चित्रण से तो ऐसा लगता है कि रेडियो की कमेण्टरी हो रही हो । तीसरे अंक में मान्धाता, कालिदास और विषमशील की सारी चर्चा कमेण्टरी ही तो है ।

इसीलिए मिश्रजी के नाटक अव्यवस्थित और विशृंखल बन जाते हैं । कार्य-कारण-सम्बन्ध विच्छिन्न रहता है । गरुड़ध्वज और वत्सराज—दोनों में पहले अंक का दूसरे अंक से कोई कार्य-कारण-सम्बन्ध नहीं जुटता । वस्तु-रचना की दृष्टि से भी ये दोनों अलग-अलग कथाएँ हैं और दोनों के भिन्न उद्देश्य भी हैं ।

मिश्रजी अपने ऐतिहासिक नाटकों में भी ऐतिहासिकता की रक्षा नहीं करते । उनका प्रधान उद्देश्य समस्या-विशेष का निरूपण है, ऐतिहासिक तथ्य वहाँ निष्क्रिय साधन के रूप में ही उपस्थित होते हैं । प्रसादजी में ऐसी बात नहीं थी । वे ऐतिहासिक पक्ष की अवहेलना नहीं करते थे और वे इतिहास की मूलवर्ती प्रगति का चित्रण-विश्लेषण करते थे । वत्सराज और गरुड़ध्वज में बौद्ध धर्म का विश्लेषण एकांगी हो गया है । 'वितस्ता की लहरें' में मिश्रजी ने सिकंदर के चरित्र को खूब गिरा दिया है, प्रसादजी ने सिकन्दर का महत्त्व स्वीकार किया है ।

इनके अतिरिक्त मिश्रजी की नाट्यकला की कतिपय विशिष्टताएँ भी हैं । मिश्रजी हिन्दी के पहले नाटककार हैं जिन्होंने भारतीय कलादर्श को सर्वथा त्याग कर पश्चिमी कला को अपनाया । आधुनिक पश्चिमी नाटकों में वाह्य संघर्ष की अपेक्षा

भीतरी संघर्ष का महत्त्व अधिक है। यदि हम नाटकीय कार्य-व्यापार के महत्त्व को छोड़ दें तो यह मानना पड़ेगा कि मिश्रजी बड़े कौशल से सूचनाओं के आधार पर अपनी कथा की इमारत खड़ी कर लेते हैं। घटनाएँ परोक्ष में भले ही साकार रही हों, रंगमंच पर सर्वथा निराकार बन जाती हैं। वत्सराज का तीसरा अंक चरित्र; घटना, आकस्मिकता आदि दृष्टियों से पर्याप्त कौशलपूर्ण है।

स्वगत, अर्द्धस्वगत, आदि कथनों का इनके नाटकों में एक बार भी प्रयोग नहीं हुआ। कथोपकथन अधिकांशतः संक्षिप्त, और स्वाभाविक हैं। इनमें नाटकीयता और लाघव का खुल कर प्रयोग हुआ है। ऐसे स्थलों पर मिश्रजी के विराम और हायफेन भी बोलते हैं। गीतों को पूर्णतया निष्कासन दे दिया गया है इससे अस्वाभाविकता से नाटकों की रक्षा हुई है।

अभिनेयता की दृष्टि से विचार करने पर हम पाते हैं कि मिश्रजी के नाटकों में यदि समुचित दृश्य-विभाजन किया गया होता तो वे बड़े सफल होते। दृश्य विधान रंगमंच का प्रमुख अंग है, साथ-साथ उसमें सामाजिक शील का निर्वाह भी चाहिये '। संन्यासी' और 'राक्षस का मंदिर' में चुम्बन-आलिंगन प्रदर्शित करने में अनावश्यक और निरर्थक उदारता प्रदर्शित की गयी है। इन नाटकों का दृश्य-विधान भी अत्यन्त गड़बड़ है। अंक के मध्य में ही सहसा पर्दा उठ जाता है और दृश्य बदल जाता है। उत्कृष्ट अभिनेयता के लिए कार्यव्यापार, आकस्मिकता और कुतूहल—ये तीन चीजें आवश्यक हैं। कार्यव्यापार की दृष्टि से जैसा हम पहले ही कह चुके हैं, मिश्रजी के नाटक शिथिलतम हैं। और जब कार्यव्यापार ही नहीं तो आकस्मिकता क्या, कुतूहल क्या। पर, मिश्रजी के चरित्रों में (कथा में नहीं) ये दोनों तत्त्व पर्याप्त मात्रा में हैं। चरित्रों के भीतर की उलझन और घुटन को उपस्थित करने के लिए सिर्फ कुशल अभिनेताओं की आवश्यकता है।

———

गरूड़ध्वज की ऐतिहासिकता

गरुड़ध्वज की कथा, भारतीय इतिहास में शुंगों के उस उत्कर्ष से सम्बन्ध रखती है जो लगभग १२५ ई० पू० से ७३ ई० पू० तक अप्रतिहत विकास पाता रहा था। शुंगों का साम्राज्य पूर्वी भारत का पहला ब्राह्मण-साम्राज्य था, जिसकी परंपरा में संस्कृत-साहित्य के ब्राह्मण महाकवि कालिदास का सक्रिय सहयोग था। विदिशा शुंग-सेनापति (राजा) विक्रममित्र की राजधानी है; वैसे मिश्रजी ने पाटलिपुत्र और साकेत की ओर भी संकेत किया है। विदिशा ग्वालियर राज्य में थी और वह किसी समय पूर्वी मालवा की राजधानी थी। पश्चिमी मालवा की राजधानी उज्जयिनी थी। इसी पश्चिमी मालवा का पुराना नाम अवंती है। 'काशी' आजकल की वाराणसी है, और कभी एक स्वतंत्र जनपद थी। अजातशत्रु ने इसे मगध में मिला लिया था। मौर्यकाल तक वह मगध का ही अंग बनी रही थी, यह सभी इतिहासकार स्वीकार करते हैं। शुंगों के समय में भी यह उनके मगध-साम्राज्य का एक प्रदेश मात्र थी।

मालवा, अवंती का नामांतर है। यहीं ५७ ई० पू० में मालवों ने शकों को परास्त कर अपनी प्रतिष्ठा की। प्रतिष्ठान कभी आंध्र-सातवाहन शक्ति का केन्द्र था। आंध्र, कृष्णा और गोदावरी के किनारों से उठकर कभी संपूर्ण दक्कन में फैल गये थे और अपने उत्कर्ष-काल में नासिक से लेकर नर्मदा तक के सारे दक्षिणापथ के स्वामी बन गये थे। दक्षिण में पांड्य भी थे जिनकी राजधानी पहले उरगपुर अथवा उरैपुर और पीछे मथुरा (मडुरा) हुई। अब तात्कालिक भारत का भौगोलिक-राजनैतिक रूप इस प्रकार बना। पुष्यमित्र शुंग के समय नर्मदा-बेतवा से लेकर सिंधु तक का सारा प्रदेश शुंगों के अधिकार में, फिर अवंती का राज्य पहले शकों के हाथ में, फिर मालवों के। उससे दक्षिण आंध्र-सातवाहनों का विशाल ब्राह्मण-राज्य, फिर उनसे परवर्ती ठेठ दक्षिण का पांड्य-राज्य कुमारी अंतरीप और दक्षिण महासागर तक। अंतर्वेद गंगा-यमुना के मध्य का

दोआब था, पाटलिपुत्र पटना, साकेत अयोध्या, मध्ययिका चित्तौर के समीप नगरी और शाकल स्याल कोट।

शुंग राजा इस क्रम में हुए और उनका काल-परिमाण इस प्रकार का था :—

	राजा		राज्यकाल	ई० पू०
१.	पुष्यमित्र शुंग (वृहद्रथ मौर्य के हन्ता)		३६ वर्ष लगभग	१८५-१४९
२.	अग्निमित्र		८ ,, ,,	१४९-१४१
३.	वसुज्येष्ठ (संभवतः अग्निमित्र का अनुज)		७ ,, ,,	१४१-१३४
४.	वसुमित्र		१० ,, ,,	१३४-१२४
५.	अंध्रक (ओद्रक)		२ ,, ,,	१२४-१२२
६.	पुलिंदक		३ ,, ,,	१२२-११९
७.	घोष		३ ,, ,,	११९-११६
८.	वज्रमित्र (नाटककार का विक्रममित्र)		९ ,, ,,	११६-१०७
९.	भागवत	(काशिपुत्र भागभद्र)	३२ ,, ,,	१०७- ७५
१०.	देवभूमि	(देवभूति)	१० ,, ,,	७५- ६५
			१२०	

यह तालिका पुराणों के अनुसार की गयी है। इसके बाद ही ७३ ई० पू० में मगध की गद्दी पर काण्वायनों का राज्य शुरू हुआ, जिनका प्रधान वासुदेव था।

अब हम 'गरुड़ध्वज' के उन वाक्यों को उद्धृत करते हैं जिनसे नाटककार के अनुसार उसके ऐतिह्य पर प्रकाश पड़ता है।

(१) "सेनापति पुष्यमित्र ने साकेत के दक्षिण यवन आततायी दत्तमित्र को पराजित कर धर्म की रक्षा की थी।"—(पृ० १६)

(२) "इन्हीं बौद्ध नास्तिकों और ब्रहद्रथ ने मिलकर षड्यंत्र से दत्तमित्र को निमंत्रित किया। उसने कहीं भी किसी बुद्धविहार को हाथ नहीं लगाया। उसके लक्ष्य तो वे ही स्थान थे जहाँ वैदिक धर्म जागने लगा था। जिन ग्रामों और जनपदों में वैदिक आस्था बढ़ चुकी थी, उनका ध्वंस दत्तमित्र ने सबसे अधिक किया।" (पृ० १६)

(३) "कलिंग के मेघवाहन क्षारवलि ने भी इसी देशद्रोह को मिटाने के लिए आर्य पुष्यमित्र का पूरा साथ देकर यवनों को सिंधु के उस पार तक खदेड़ मारा और इधर प्रजा इस समाचार से इतनी बिगड़ उठी......कि प्रजा और सेना की आज्ञा के सामने सिर झुका कर आचार्य पुष्यमित्र को नृशंस बृहद्रथ का वध करना पड़ा।" (पृ० १६)

(४) "वह (मिनान्दर का पुत्र) तो तुम्हें मिल गया था। तुम्हारे पिता काशिराज के प्रासाद में तुम्हारे साथ महीनों रहा और फिर तुम्हें साथ लेकर कई दिन रास्ते में भी......।" (पृ० ३१)

(५) "सिंधु के तट से लेकर गंगासागर तक शुंग सेनापतियों और मेघवाहन क्षारवलि ने मिल कर वैदिक यज्ञ और कर्मकाण्ड की ऐसी लहर चला दी कि विहारों में ही बचे-खुचे बौद्ध रह गये।" (पृ० ३३)

(६) "यवन मनेन्द्रि अपने घोड़े पर भाग निकला, किन्तु निकल नहीं सकता।" (पृ० ३७)

(७) "अब कौन नहीं जानता कि काशिराज की कन्या कुमारी वासंती शाकल के यवन राजकुमार को दान कर दी गयी और सेनापति पुष्यमित्र ने उसे रास्ते में ही पकड़ लिया और वह कुमार मध्यमिका से पश्चिम अकेले लड़ता हुआ वीरगति को प्राप्त हुआ।" (पृ० ४२)

(८) "तुम्हारे पिता जातीय मर्यादा के विरुद्ध तुम्हें (वासंती को) मनेन्द्र के पुत्र को दे रहे थे, जिसकी अवस्था उस समय पचास वर्ष की थी।" (पृ० ७६)

(९) 'शाकल के मेनेन्द्र और तुम्हारे (वासंती के) पिता गुरुभाई थे। दोनों ही का दीक्षागुरु वह क्षपणक थेर। नागसेन था जिसने आर्यावर्त से उखड़ते हुए बौद्ध विधान को फिर से जमाना चाहा था।" (पृ० ७७)

(१०) "उसी ने तो कालक को मीननगर भेज कर इन शक-हूणों को इधर आने का निमंत्रण...।" (पृ० ७८)

(११) "मेनेन्द्र के पूर्वज दत्तामित्र को साकेत, गोमठ और मध्यमिका पर चढ़ा लानेवाला वही नागसेन था।" (पृ० ८६)

(१२) "मेघवाहन खारवलि और पितामह वसुमित्र ने सेना-साधन से उनकी सहायता कर उन्हें उन्हीं स्थानों में स्थिर किया और आगे बढ़कर यवनों को सिंधु के उस पार शाकल तक पहुँचा दिया।" (पृ०-१०५)

(१३) "जैन खारवलि तो उससे इतना प्रभावित हुआ कि उसने मालव महेन्द्रादित्य के साथ अपनी पुत्री सौम्यदर्शना का विवाह कर दिया। (पृ० १०५)

(१४) वसुज्येष्ठ—वसुमित्र—अंध्रक—पुलिंद—घोष—भागवत—देवभूति। पृ० ५४ पर तालिका

(१५) "इस समय वे (विक्रममित्र) २७ वर्ष पार कर रहे हैं। (पृ० ५५)

अब जरा कालक्रम पर विचार कीजिये। यह तो सिद्ध ही है कि अंतिम मौर्य सम्राट बृहद्रथ, प्रथम शुंग-सेनापति पुष्यमित्र, खारवलि, यवनराज दत्तमित्र, यवन मेनेन्द्र, उसका पचास वर्ष का पुत्र, अग्निमित्र, वासंती के पिता काशिराज, कालकाचार्य वसुज्येष्ठ, वसुमित्र, अंध्रक, पुलिंद, घोष, भागवत, देवभूति, वासुदेव, विक्रममित्र, हेलियोदोर, विषमशील, कालिदास सब समकालीन हैं। हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि इनमें से कई, कम से कम छः तो नाटककार की ही गणना के अनुसार केवल पूर्वोत्तरवर्त्ती राजा ही नहीं,' पिता-पुत्र भी हैं। इस क्रम से प्रायः एक दर्जन पुश्तें समकालीन हो जाती हैं। पौराणिक तालिका के क्रम से पुष्यमित्र लगभग १८५ ई० पू० में राजा होता है। विषमशील मालवा का राजा होकर ५६-५७ ई० पू० में विक्रम संवत् चलाता है। फिर भी कहा जाता है कि पुष्यमित्र की मृत्यु अभी हाल की ही है। विषमशील और कालिदास युवा हैं, प्रायः २५ वर्ष के। वासंती कालिदास की प्रेयसी लगभग बीस की होगी। कुछ दिन पूर्व उसके मेनेन्द्र-पुत्र को दिये जाने और पुष्यमित्र द्वारा उसकी रक्षा की बात पृष्ठ ४२ पर कही गयी है। साथ ही मलयवती वासंती से यवनकुमार के प्रति उसके सब कुछ ले लेने की बात कहती है, जिससे सिद्ध होता है कि वह कम-से-कम बालिग तो थी ही—अर्थात् १६ साल की। इस प्रकार ५६-५७ ई० पू० में जब नाटक की कथा समाप्त होती है और विक्रम संवत् का प्रचलन होता है, तब पुष्यमित्र केवल दो-तीन वर्ष पूर्व मर चुका होता है। नाटककार की

बहुत अधिक तरफदारी करते हुए भी यदि आप मानें कि पुष्यमित्र ६० ई० पू० के लगभग मरा, तब जरा गिनिये तो वह कितने साल जिन्दा रहा! लगभग १८५ ई० पू० में उसने बृहद्रथ को मारा था, और तब वह स्वयं सेनापति भी था—यानी कि वह पद उसे कम-से-कम तीस वर्ष का होने पर ही मिला होगा। तब पुष्यमित्र का जन्म १८५ ई० पू० + ३० = २१५ ई० पू० के लगभग ठहरता है। तब उसका जीवन काल कितना हुआ २१५-६० = १५५ वर्ष। क्या यह स्वीकार्य है?

और कालिदास के सम्बन्ध में तो अजब गड़बड़घोटाला है। यदि विद्वानों के मतानुसार उनका जीवन-काल ७० वर्ष मानें तो ५६-५७ ई० पू० में जब वे २५ वर्ष के युवा हैं, अभी उन्हें ४५ वर्ष और जीना है—यानी २८ ई० पू० तक। यह वह समय है जब कि आंध्र-सातवाहन राजा सिमुक ने शुंगों के उत्तराधिकारी काण्वायनों के अंतिम राजा से मगध का राज्य छीना था। कालिदास की प्रेयसी की रक्षा सेनापति पुष्यमित्र ने की थी—(पृ० ४२)। इस प्रकार अपने जीवनकाल में कालिदास शुंगों की दस पुश्तें या राज्यकाल और काण्वायनों की चार पुश्तें देख लेते हैं। अर्थात् वे कुल १३७ वर्ष जीवित रहते हैं। फिर विक्रममित्र जो अभी ८७ वर्ष के हैं, अपने छः बाप-दादों से तो आयु में बड़े ठहरते ही हैं, पुष्यमित्र से भी लगभग दस वर्ष बड़े ठहरते हैं।

हूणों का तो अभी नामोनिशान तक नहीं था। अभी तो संभवतः वे अपने आदिम निवास चीन के 'कान-सू-आंत' से चलकर युहचियों से टकराये तक नहीं थे। फिर सारा मध्यपूर्व एशिया पार कर भारत की सीमा पर होने की बातें कैसे कही जा सकती है? कालकाचार्यवाली बात पीछे की होने के कारण उसमें हूणों का जो नाम आ गया है, उससे मिश्रजी को गलतफहमी हो गयी है। इसी प्रकार मिश्रजी काशी से शाकल जाने की राह में मध्यमिका का पड़ना लिखते हैं और बताते हैं कि शाकल जाता हुआ यवनराज कुमार मध्यमिका के भी पश्चिम मारा जाता है। मध्यमिका चित्तौर के पास राजपुताने में है और शाकल, स्यालकोट का पुराना नाम है। यह तो पंजाब जाने के लिए आसाम होकर रास्ता बनाना हुआ।

फिर यह सिंधु के बाद शाकल ? शाकल तो पूर्व में है, सिंधु नद उसके पश्चिम में।

मिश्रजी यह सर्वथा भूल गये हैं कि कालिदास को पुष्यमित्र शुंग का समकालीन बना देने से वे पतंजलि के भी समकालीन हो गये हैं, क्योंकि 'महाभाष्य' के अनुसार पतंजलि, पुष्यमित्र के समसामयिक और उनके अश्वमेध के ऋत्विज थे। कालिदास का, जो पतंजलि के योगसूत्रों को प्रमाण मानते हैं, महाभाष्यकार का समीपवर्त्ती होना एकदम असंगत है। मेघदूत-योगसूत्र-महाभाष्य एक साथ नहीं रखे जा सकते। उसी प्रकार कालिदास का युद्ध करना भी असंगत है। वे 'वाल्मीकि और व्यास की परंपरा' में थे, यही कह देने से वे योद्धा नहीं बन जाते। और वाल्मीकि और व्यास ही कौन-से योद्धा थे ? तीसरी सबसे बड़ी ऐतिहासिक विडंबना इस सम्बन्ध में कालिदास को सपिण्ड सरयूपारीण सिद्ध करना है। मैथिल लोग उन्हें मिथिला का 'झा' बना ही रहे थे कि नाटककार ने उन्हें आजमगढ़ का 'मिश्र' बना दिया।

"शुंग-परंपरा' में राजधानी का पद तो केवल विदिशा को मिला है" (पृ० २८)। यह कहना ऐतिहासिक दृष्टि से गलत होगा। राजधानियाँ वास्तव में पाटलिपुत्र, जहाँ पुष्यमित्र ने अश्वमेध किया था, और साकेत या अयोध्या, जहाँ से उसके दो अभिलेख उपलब्ध हुए हैं, थीं। विदिशा तो दक्षिणी प्रांतों का शासन-केन्द्र थी जहाँ सम्राट् का पुत्र प्रतिनिधि की हैसियत से रहता था। अंतर्वेद का भौगोलिक अर्थ समझने में मिश्रजी ने गलती की है। इसका अर्थ है गंगा-यमुना के बीच का द्वाब जो प्रयाग में ही समाप्त हो जाता है। काशी उसके बाहर है जो पाटलिपुत्र और साकेत के बीच में पड़ती थी (है भी)। वहाँ न विद्रोह संभव था और न तो युद्ध-विधान ही। काशी का अवंती के अधिकार में हो जाना तो एकदम अग्राह्य है, फिर एक ओर काशी और दूसरी ओर पांड्यराज का अवंती में मिल जाना तो और भी अजीब है।

इतिहासों में देवभूति अत्यन्त विलासी माना गया है। वासुदेव दासी से उसका वध कराता है और पुष्यमित्र की भाँति स्वयं गद्दी छीन लेता है। इस प्रबल ऐतिहासिक सत्य को परिवर्तित करना उपादेय नहीं जान पड़ता जब इसके बदले

वासुदेव को यह राज्य दान में दे दिया जाता है। ऐसा होना अस्वाभाविक है। और फिर सारे ब्राह्मण शुंग-राज्य को क्षत्रिय त्रिषमशील को देने की बात भी अस्वाभाविक है। ऐसा होता नहीं, हो ही नहीं सकता था, जब सदियों के संघर्ष के बाद ब्राह्मणों ने क्षत्रियों के रक्त से अभिषेक किया हो।

संबोधनों में 'देव' और 'देवि' का प्रयोग उचित था, 'सेनापति' का नहीं। 'सेनापति' केवल राजसंज्ञा थी, संबोधन नहीं। एक ओर नाटक में यह कहा गया है—"सेनापति विक्रममित्र सबसे बड़ा धर्मशरणागत रक्षा करते हैं। उन्हीं के विचार महाकवि कालिदास अपने काव्य में रख रहे हैं।" (उसी कालिदास ने अपने 'मालविकाग्नि चित्र' में अग्निमित्र को 'राजा', 'प्रभु', 'भगवान्, विदिशेश्वर' आदि संज्ञा से विभूषित किया है, फिर भी उनकी जीभ नहीं काटी गयी)। दूसरी ओर पुष्कर द्वारा परोक्ष में सिर्फ एकबार 'महाराज' कह देने से उत्पन्न भय से ही नाटक का श्रीगणेश होता है।

मिश्रजी का सांस्कृतिक अनुशीलन अप्रगतिशील, सांप्रदायिक और एकांकी है, इसीलिए उसे वितर्क का आश्रय लेकर विमार्ग हो जाना पड़ता है।

———

'गरूड़ध्वज' का नायक कौन ?

एक आलोचक के शब्दों में—"मिश्रजी में हमें एक तीव्र वलवती विचारधारा, एक वेदना मिश्रित तिलमिलाहट, समाज और परिस्थितियों के प्रति एक मार्मिक किन्तु गंभीर व्यंग्य मिलता है।" मिश्रजी के नाटकों में तत्कालीन परिस्थितियों एवं पात्रों का चित्रण जितना सरल है, उतना ही कठिन भी। इनके पात्रों का चित्रण समझने के लिए परिष्कृत एवं निष्पन्न मस्तिष्क की आवश्यकता पड़ जाती है। नाटक देखते ही किसी विशेष पात्र से प्रभावित होकर एकदम नायक कह देना अनुचित है। बिना विषय और लेखक के उद्देश्य पर विचार किये हुए सेनापति विक्रममित्र को नाटक का नायक मान लेना उसी प्रकार अनर्गल है।

यदि सरसरी दृष्टि से हम नाटक की संपूर्ण घटनाओं को देखें तो उसका उद्देश्य कुमार विषमशील का राज्याभिषेक ही ठहरता है, वही उसका फल है; फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि नाटक के नायक कुमार विषमशील हैं। हिन्दू संस्कृति के संस्थापक महाराजा विक्रमादित्य और उनके अमर कवि कालिदास के सम्बन्ध की अनेक घटनाओं पर नवीन दृष्टिकोण से प्रकाश डालना ही मिश्रजी के इस नाटक का प्रधान उद्देश्य प्रतीत होता है। मिश्रजी ने स्वयं न चाहते हुए भी नाटक के उद्देश्य की झलक भूमिका में दे ही दी है। आपने महाकवि कालिदास का सम्बन्ध शुंग सेनापति विक्रममित्र, शकारि विक्रममित्र और शकारि विक्रमादित्य—सबसे माना है। वे कहते हैं—"मेरी कल्पना का यह आग्रह सम्भव है किसी दिन इतिहास के विद्वानों को भी स्वीकार हो······हमारी संस्कृति से यदि कालिदास और विक्रमादित्य निकाल दिये जायँ तो वह निःसंदेह श्री और शक्तिहीन हो जायगी।······इस नाटक की मूल प्रेरणा वही श्री और शक्ति है।" मिश्रजी के ये वाक्य नाटक के उद्देश्य के द्योतक हैं। अतः विक्रममित्र नहीं, वरन् उनके सारे सद्गुणों की प्रतिमा कुमार विषमशील भी नहीं, वरन् वह महापुरुष

जिसके सम्पर्क से विक्रममित्र भी कवि और विषमशील भी समशील हो जाते हैं, इस नाटक का सर्वस्व है। वे हैं हमारे अमर कवि कालिदास।

कालिदास महान् हैं, कोई भी आपसे बिना प्रभावित हुए रह ही नहीं सकता। पर्वत की तरह अचल रहनेवाले विक्रममित्र के प्रथम दर्शन में ही यह अवस्था हुई थी—"मुझे तो विश्वास हो गया कि यह कोई भावी महापुरुष······वाल्मीकि या पतंजलि का उत्तरधिकारी······उसके ललाट पर गंभीर चिंतन की आभा खेल रही थी। मंत्रमुग्ध की भाँति मैं उसके निकट खिंच गया।" विक्रममित्र का विश्वास है कि कालिदास के भीतर कोई दैवी अंश है। फिर जिसके काव्य में इतनी शक्ति है कि "विक्रममित्र की आँखें जिसको सुनकर कभी चमक जाती हैं, कभी मुँद जाती हैं······शरीर रोमांच से गद्‌गद् हो उठता है", उसकी महानता पर किसको संदेह हो सकता है। सेनापति विक्रममित्र से "इस व्यापक प्रकृति में जो कुछ प्रेय है सब मेघरुद्र में है, नहीं तो क्या यह कभी संभव होता कि आज प्रातःकाल जो श्लोक बनते वे कल ही पाँच योजन तक फैल जाते—······"इसके अतिरिक्त एक नाटककार और क्या कहला सकता है। वासंती तो उन्हें "अक्षय-कीर्त्ति, सिद्धि और प्रेम" का उपासक मानती है। और कुमार विषमशील? उनका जो भी ओज है, वह कालिदास की वाणी की देन है। वे कहते भी हैं—"तुम्हारे काव्य के लिए, तुम्हारी वाणी के ओज के लिए मैं छत्रपों का विध्वंस करूँगा।" यह कालिदास का स्पर्श है जिसके कारण विषमशील में शील विषम न होकर सम बन जाता है।

यह तो हुई घरवालों की बात, विपक्षी भी आपसे बिना प्रभावित हुए नहीं रह सकते। आदेश मिलने पर आप तुरत ही वासुदेव के साथ काशी पर आक्रमण करने को चल पड़ते हैं और सैनिकों को एक योजन पीछे छोड़ कर केवल एक सैनिक पुष्कर के साथ निर्भय काशिराज के भवन में चले जाते हैं। "देश के गौरव और उसकी रक्षा का वह चित्र उन्होंने वहाँ खींच दिया कि बड़े-बड़े मंत्री और बौद्ध तार्किक उनका मुँह देखते रह गये······"यह विवरण देते हुए सेनापति विक्रममित्र हलोदर से कहते हैं—"आत्मबल कभी-कभी सेनाओं पर

क्या हिंस्रजीवों पर भी विजय पा जाता है—अपनी पुत्री के प्रेम में काशिराज उनके साथ आ रहे हैं। देवभूति भी उस प्रभाव से न बच सके, वह भी उनके साथ हैं और यवनकन्या कौमुदी भी।" काशिराज का मन उनकी ओर इस प्रकार झुक जाता है कि उसके मन की यह दशा किसी भी दूसरे विचार को आने नहीं देती। सेनापति विक्रममित्र से उन्होंने स्वयं कहा है—"जिस दिन वे मेरे भवन में गये थे घोर उत्तेजना की बात मेरे परिषद् और संघ स्थविर कर रहे थे ·····किन्तु लेश मात्र भी उत्तेजना उनके भीतर न आयी······तर्क और विवाद से जो इस प्रकार बच जाय।" यह वह धीरता, वीरता और गंभीरता है जिस पर प्रसन्न होकर काशिराज अपनी कन्या समर्पित कर देते हैं। क्रूर कालकाचार्य पर भी आपका प्रभाव उतना ही गहरा पड़ा है—"युद्ध के समय तुम्हारी आकृति से जो विश्वास, जो निष्ठा निकल रही थी उसमें मेरी सारी कालिमा जलकर स्वाहा हो गयी।"

ऐसा व्यापक प्रभाव, परस्पर विरोधी तत्त्वों पर समान रूप से किसी अन्य पात्र का प्रदर्शित नहीं किया गया है। सेनापति विक्रममित्र शासक हैं, आतंक और भय उनके प्रधान अस्त्र-शस्त्र हैं। उनके सामने जीभ हिलाना तो कठिन है ही, परोक्ष तक में उच्चारण की अशुद्धि जोखिम से पूर्ण है। वासंती तक आपसे भय खाती है और मलय युवती के बुलाने पर कहने लगती है—"हे ईश्वर! मुझ पर अभी कुछ और कृपा करेंगे क्या?" वे जबर्दस्ती कह-कह कर महादेवी से कालक का तथा देवभूति का विषमशील से न्याय करवाते हैं, इससे न तो उनका नाटक के पात्रों पर इतना प्रभाव रह जाता है और न हम पर।

महाकवि कालिदास शील में भी अप्रतिम हैं। जब उनकी प्रेयसी वासंती उन्हें अक्षयकीर्त्ति, सिद्धि और प्रेम का उपासक ही नहीं, देवता तक मानने लगती है तब वे कहते हैं—"देवत्व का अहंकार सबके लिए शुभ भी नहीं है······मैं तो अब देवता को मनुष्य बना रहा हूँ, मनुष्य से बढ़कर देवता होता भी नहीं।"

जिस समय वासंती अपने पिता काशिराज को सकुशल बिना रक्तपात के लाने का उपकार जीवन भर न भूलने की कहती है तो पुनः वे शीलयुक्त शब्दों में उत्तर देते हैं—"उपकार नहीं सेवा……।" जब विषमशील कहते हैं कि अवन्ती का गौरव कवि की वाणी से निकले तो आप कहते हैं—"मेरी यह कामना है कि मैं उस गौरव में उसी तरह लीन हो जाऊँ कि मेरा कुछ न रहे।" सेनापति विक्रममित्र सोचते हैं कि देश के गौरव, सुख और शांति की रक्षा" ही उनका धर्म है, उन्हें "इसी में निर्वाण मिल जायगा," पर महाकवि स्वयं कुछ नहीं चाहते और उसी में लीन हो जाना चाहते हैं—यही उनकी महानता है।

कालिदास के महाकवित्व का इससे बड़ा और क्या प्रमाण मिल सकता है कि वे 'धरती का राज्य न चाहकर हंसवाहिनी सरस्वती की वीणा का स्वर ही सुनते रहना चाहते हैं। कालिदास (मिश्र जी के) केवल भावनाओं में डूब मरनेवाले कवि ही नहीं, समय पड़ने पर राष्ट्र-रक्षा के लिए सन्नद्ध योद्धा भी हैं। बालब्रह्मचारी विक्रममित्र का चरित्र महान् तो कालिदास का चरित्र महानतर। कोई भी कुमारी जब उनके सामने आती है तो वे भय खाते हैं, अपने में वासंती की अपेक्षा हीनता का अनुभव करते हैं। उन्हें तो कामिनी से जो कुछ भी मिल सकता है उससे बहुत अधिक उन्हें अपने काव्य में मिल गया है।—"उस बेचारी के लिए इस मन में कहाँ जगह मिलेगी जिसमें पार्वती आ चुकी है। मैंने उस अभाव को पूरा कर लिया है शंकर-पार्वती के प्रेम में……।" कुमारी वासंती के निकट रहने का उन्हें केवल उस समय मन होता है जब आचार्य उन्हें उसके पास किसी न किसी प्रयोजन से भेजा करते थे। उनका मन तो उस समय वीणा के स्वरों पर चढ़ कर कहीं का कहीं चला जाता था, किन्तु अब यह जानकर कि वासंती उनकी पत्नी होगी वे काँपने लगते हैं। यही है सात्विकता का उत्कृष्ट प्रमाण।

सेनापति विक्रममित्र आरंभ से ही त्याग, न्याय, कठोरता, नैतिकता और दृढ़ता की, देवत्व से पूर्ण पाषाण प्रतिमा के रूप में उपस्थित होते हैं। उनके दर्शन आतंकपूर्ण हैं। फलतः उनमें अनेक विरोधी तत्त्वों का समावेश हो गया

है। वे हलोधर से कहते हैं—"पुत्र की शक्ति कैसी होती है, उसका आकर्षण कैसा प्रबल होता है, इसका अनुभव तो मुझे हुआ ही नहीं", "किन्तु प्रकृति का यह अभाव ऐसा नहीं जो सरलता से छूट जाय। इस देश का कोई भी बालक उन दिनों मुझे पुत्र की तरह अपनी ओर खींचता था...... ।" कालिदास कभी भी देवत्व का अहंकार नहीं करते। वे एक साधारण मनुष्य की समस्त शहजोरियों और कमजोरियों के साथ हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं।

कालिदास के चरित्र में उत्कृष्ट कोटि की सजीवता है। उनमें जीवन की सौदामिनी और यौवन की मचलन है। इसी कारण वे शीघ्र ही हमारे हो जाते हैं, परंतु विक्रममित्र के साथ और किसी भी पात्र में यह विशेषता नहीं। विक्रम-मित्र प्रारंभ से ही आदर्श-आदर्श चिल्लाते हैं और अंततः उसी में विलीन हो जाते हैं—रह जाती है सिर्फ उनके त्याग की धूसर लालिमा। कालिदास हमारे हृदय में रम जाते हैं।

———

कथा-सार

प्रथम अंक :—नाटक का प्रारंभ बेतवा के निकट सेनापति अग्निमित्र के विशाल प्रासाद के सिंहद्वार पर प्रहरियों की बातचीत से होता है। ठोस काले और श्वेत पत्थरों की बनी दीवारें, चारों कोनों और बीच में मंदिर की तरह शिखर, और ठीक मध्य के उच्चतर शिखर पर धीमी वायु के सहारे गंभीर मुद्रा में डोलता हुआ गरुड़ध्वज। प्रहरी आपस में हास-परिहास कर रहे हैं कि कालिदास के मेघदूत की बात चल पड़ती है। उनमें से एक अपने मित्र को लेकर यह परिहास करता है कि "कालिदास से पूछ देखना। वह बता देंगे कि उस समय इसी की तरह यक्ष भी कुल बीस वर्ष का था। वह भी अपनी यक्षिणी से उसी तरह दूर पड़ा था जैसे आज यह है। वहाँ कुबेर का अनुशासन था और यहाँ महाराज विक्रममित्र का अनुशासन है।" महाराज शब्द का प्रयोग करना था कि दूसरे प्रहरी ने टोका—यह अनर्गल है, अनुशासनहीनता है, और इस कार्य का दण्ड मृत्यु है। प्रहरी ने अपने मित्रों से डर कर यह कहा कि वे इस बात को कहीं प्रकट न करें कि उसने विक्रममित्र के लिए महाराज शब्द का प्रयोग किया है। दूसरा प्रहरी कहता है कि विक्रममित्र के शासन में अनीति छिपी नहीं रहती, यह प्रकट हो ही जायगी। प्रहरी थर्र-थर्र काँपने लगता है, दूसरा प्रहरी वह सारी कथा कहता है जिसके चलते विक्रममित्र महाराजा होते हुए भी महाराजा कहाना अच्छा नहीं समझते, अनीति मानते हैं। विक्रममित्र उस शुंग-वंश के हैं, जिसके आदि पुरुष पुष्यमित्र ने अंतिम मौर्य सम्राट् बृहद्रथ का वध प्रजा और राष्ट्र-रक्षा के लिए किया था और जिन्होंने साकेत के दक्षिण आततायी यवन आक्रमणकारी दत्तमित्र की विजयवाहिनी को परास्त कर सिंधुपार तक खदेड़ देने वाली मगध-सेना का सेनापतित्व किया था। इस कार्य में कलिंग के मेघवाहन खारवलि ने भी उनकी पूरी सहायता की थी और इस प्रकार देश-द्रोही नास्तिक बौद्धों को समाप्त कर उन्होंने उत्तराखंड में पुनः ब्राह्मण-धर्म की प्रतिष्ठा की थी। देशद्रोही बृहद्रथ ने सम्राट

या महाराज पद को इतना अधिक कलंकित कर दिया कि प्रजा के लिए वह शब्द ही घृणित हो गया। गरुड़ध्वज की छाया में उसीकी शपथ लेकर सेनापति पुष्यमित्र ने राज्यभार सम्हाला। तभी से उनकी वंश-परंपरा में धर्म और धरती की रक्षा के लिए शासकों को सेनानी, तलारक्ष और बैठ कहा जाता है। इन बातों को लेकर सिंहद्वार पर कुछ रगड़-झगड़ चल ही रही थी कि प्रासाद के भीतर से दो समवयस्का कुमारियाँ आकर उपस्थित हुईं। एक मलयदेश की राजकुमारी थी और दूसरी काशी की राजकुमारी। भय से थर्र-थर्र काँपते हुए प्रहरी को मलय कुमारी ने इस विश्वास के बल पर अभयदान दिया कि सेनापति विक्रममित्र उसकी एक माँग पूरा करने को वचनबद्ध हो चुके थे। इसी बीच एक गरुड़ध्वजधारी राजभृत्य ने उपस्थित होकर यह आज्ञा सुनायी कि सेनापति उक्त प्रहरी को बुला रहे हैं। मलयकुमारी झूठ बोल गयी कि उसने प्रहरी को पूजा के निमित्त सहस्रदल कमल लाने को भेज दिया है। भृत्य लौटा ही था कि मलयकुमारी ने प्रहरी को टरका दिया, इसलिए कि इसी बीच वह सेनापति से कह-सुनकर उसका अपराध क्षमा करा देगी। प्रहरी के चले जाने पर दोनों कुमारियाँ एक-दूसरे के सामने अपना विगत इतिहास, आन्तरिक वृत्तियों और मनोभावों को प्रकट करती हैं। मलयकुमारी ने बताया कि वह मलयपुर से यहाँ (विदिशा में) वैदिक विद्या सीखने के लिए भेजी गयी है और सेनापति विक्रममित्र के कठोर अनुशासन में रहकर भी वह अवन्ती के मालव राजकुमार विषमशील को प्यार करने लगी है। सेनापति विक्रममित्र, विषमशील (भावी विक्रमादित्य) को बहुत मानते हैं और उस दिन विषमशील की माता आर्या सौम्यदर्शना को उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा भी था कि वे विषमशील को अवन्ती का ही नहीं, सारे कलिंग, मगध, अंतर्वेद और उत्तरा खण्ड का चक्रवर्ती सम्राट बनाकर दम लेंगे। काशी की राजकुमारी ने विश्वास प्रकट किया कि मलयकुमारी विषमशील की भावी रानी और यदि भूतनाथ की दया हुई तो उनके पुत्र की माता होकर भविष्य में इस देश की सबसे बड़ी राजमहिषी बनेगी। काशी-राजकुमारी वासंती की कथा इससे भिन्न है। उसके पिता काशी-नरेश बौद्ध हैं, पर ब्राह्मण-धर्म के पुनरुत्थान के चलते एक दिन ऐसा हुआ कि उनके भवन के सामने ही दुर्गा को भैंस की बलि दी गयी। काशी-नरेश ने अन्यत्र चले

जाने की इच्छा से अपने गुरु-भाई, शाकल के यवन-राज के पचास वर्षीय पुत्र को बुला कर वासंती को सौंप दिया। कोई हिन्दू राजकुमार उसे ग्रहण करने को तैयार नहीं होता क्योंकि वह बौद्ध नरेश की सुपुत्री थी। वह चोरी से अपने पितृगृह से विदा की गयी। सेनापति विक्रममित्र ने अपने गुप्तचरों से पता लगा कर नाकेबंदी कर दी। यवन राजकुमार मारा गया और वासंती को गरुड़ध्वज की छाया में अभयदान मिला। वह अभी तक कुमारी ही है, पर दुनिया शायद समझती है (मलय कुमारी भी) कि वह उस यवन राजकुमार द्वारा भ्रष्ट कर दी गयी। अभी वह पूरे सोलह वर्ष की भी नहीं हुई, कैसे काटेगी इस कलंकित लम्बे जीवन को। जीवित यवन कुमार को वह देख भी नहीं सकी थी, पर अब मर कर वह उसके संपूर्ण प्रेम का भागी बन गया है, गंगा और कैलाश से भी अधिक पवित्र बन गया है।

मलय कुमारी पूजा के लिए मंदिर चली जाती है, इसी बीच वासंती का पालित मोर कहीं से उड़ कर उसकी गोद में आकर बैठ जाता है। काशी की पुरानी स्मृतियाँ उभर पड़ती हैं कि राजकवि कालिदास उपस्थित होते हैं। वासंती उनसे आग्रह करती है कि राजकवि अपने किसी काव्य में उसके इस बालसखा मोर को भी अमर कर दें। कालिदास कहता है कि यह काम वह मेघदूत में कर चुका है, अब वह देवता को मनुष्य बना कर उपस्थित करना चाहता है। कालिदास से ही वासंती को ज्ञात होता है कि सेनापति विक्रममित्र उसे अपनी संतान की तरह प्यार करते हैं और एकांत में उसके लिए रो-रो पड़ते हैं। वे बाल ब्रह्मचारी हैं, फिर भी भीतर से अत्यधिक भावुक हैं। अवंती के उद्धार के पश्चात् ही आप दोनों राजकुमारियों के भविष्य का निर्णय किया जा सकेगा।

इसी सिलसिले में कालिदास ने वासन्ती को यह भी बताया कि अग्निमित्र की दो रानियाँ थीं—इरावती और धारिणी। धारिणी का पुत्र वसुमित्र, वीरता में कार्तिक का अवतार माना जाता था और उसने सोलह वर्ष की अवस्था में ही महापराक्रमी यवनों को सिन्धु पार तक खदेड़ मारा था। छोटी रानी इरावती का पुत्र वसुज्येष्ठ कायर और क्लीव था। पर मृत्यु के पूर्व अग्निमित्र वसुज्येष्ठ को ही उत्तराधिकारी घोषित कर गये। वसुमित्र पितृभक्त थे, मन मसोस कर रह

गये। फिर वसुज्येष्ठ की मृत्यु के उपरांत वे ही राजगद्दी पर बैठे। तभी से इस वंश में सौतेले भाइयों की सन्तान इसी क्रम से राज्याधिकार पाती रही। वसुमित्र के मरने पर, वसुज्येष्ठ का पुत्र आन्ध्रक राजगद्दी पर बैठा, उसके बाद पुनः वसुमित्र का पुत्र पुलिंद। पुलिंद के बाद अन्ध्रक का पुत्र घोष और तब पुलिंद के सुपुत्र सेनापति विक्रममित्र। पर विक्रममित्र ने पिछली चार पीढ़ियों से चले आते हुए इस विमाता-विद्रोह को सब दिन के लिए मिटा देने का दृढ़ निश्चय कर लिया और इसीलिए उन्होंने आजन्म ब्रह्मचारी रहने का व्रत ले लिया। उन्होंने अपना अधिकार छोड़ कर घोष-पुत्र भागवत को राज्याधिकार सौंप दिया और उसकी समुचित शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध कर क्लीवता का वंशानुगत कलंक भी मिटा देने का प्रयत्न किया। इसी भागवत की संतान लंपट देवभूति है, जो पिता के चरण-चिह्नों पर न चलकर अपने दादों-परदादों का अनुकरण कर रहा है। विक्रममित्र अब सत्तासी वर्ष के हैं।

ठीक इसी समय वृद्ध पर तेजस्वी सेनापति विक्रममित्र बायें हाथ में कृष्ण मृग-चर्म और दायें हाथ में सोने का गरुड़ध्वज लिये हुए, मलयकुमारी के साथ संभाषण करते हुए पधारे। मलयवती प्रहरी को बचाने के लिए अनुनय कर रही थी, वासन्ती अपनी समस्या का समाधान चाहती थी। सेनापति ने दोनों राजकुमारियों को यह कह कर विदा किया कि प्रहरी को अनुशासन-भंग का साधारण दण्ड तो मिलेगा ही और वासन्ती का भी निर्णय शीघ्र ही यथासाध्य उसके मनोनुकूल कर दिया जायगा। तब तक तीन व्यक्तियों का प्रवेश होता है, जिनमें एक तो वासुदेव महामंत्री है, दूसरा साकेत का यवन श्रेष्ठी और तीसरा अनुचर है। सेनापति को महामंत्री ने बताया कि भागवत-पुत्र देवभूति ने यवन श्रेष्ठी अमोघ की कुमारी कन्या कौमुदी का विवाह-मंडप से जबर्दस्ती अपहरण कर लिया है और विगत पन्द्रह दिनों से काशिराज के आश्रय में रह रहे हैं। विक्रममित्र के तन बदन में आग लग जाती है, वे क्रोध से काँपने लगते हैं और कालिदास को आज्ञा देते हैं कि शीघ्र ही काशी पर आक्रमण कर काशिराज के साथ देवभूति और उस कन्या को यहाँ उपस्थित किया जाय। विदिशा के बन्दीगृहों में

पड़े सभी बन्दियों को अनुशासन-भंग करनेवाले उक्त प्रहरी के नेतृत्व में अनुशासित कर कालिदास को काशी पर आक्रमण करने की आज्ञा तो मिली, पर यह विशेष निर्देश भी दिया गया कि "रक्तपात की आवश्यकता नहीं है।" महामंत्री वासुदेव भी साकेत से सेना लेकर काशी पर धावा बोलने को चल पड़े।

द्वितीय अंक—द्वितीय अंक विदिशा के राजप्रासाद के एक ऐसे कक्ष में शुरू होता है जिसमें मंत्रिपरिषद् बैठती है और जहाँ से राज्य-संचालन होता है। स्वर्ण-सिंहासन के निकट नीचे ही मृगचर्म डाल कर सेनापति विक्रममित्र बैठे हैं और वीर युवक मान्धाता से यह बातें कर रहे हैं कि तक्षशिला के यवन सम्राट् अन्तिलकि के राजदूत हलोदर के विदिशा आने का प्रयोजन क्या है। हलोदर जिद्द किये बैठा है कि जब तक वह परमभागवत सेनापति के दर्शन नहीं कर लेगा तब तक अन्न-जल भी नहीं ग्रहण करेगा। बातचीत के क्रम में विक्रममित्र मान्धाता को बताते हैं कि राष्ट्र की रक्षा कोरे शास्त्र से नहीं होती, शस्त्र से होती है। पहले शस्त्र तब शास्त्र। पराजित जाति में शास्त्र-चर्चा सबसे नीची कोटि का अज्ञान और बिडम्बना है। शस्त्ररक्षित राष्ट्र में ही पतंजलि और कालिदास पैदा होते हैं, महाकवि की प्रेरणा महावीर पर ही टिकी रहती है। सेवक कभी तुच्छ नहीं माना जाता, राष्ट्र का सच्चा सेवक ही राष्ट्र का सबसे बड़ा देवता होता है। मान्धाता राजदूत हलोदर को बुलाने जाता है कि भूल से मलयवती उस कक्ष में प्रवेश करती है, पर सेनापति को देख कर उल्टे पाँवों लौटने का उपक्रम करती है। सेनापति उसे रोकते हैं और उसका रुआँसा चेहरा देख कर कारण पूछते हैं। वह बताती है कि वासंती हँसती है, गाती है और रोती है और हो न हो कि वह आत्महत्या कर ले। विक्रममित्र बताते हैं कि वे उसकी इस मनोदशा से परिचित हैं और इसीलिए उस पर कड़ा पहरा है। इसी बीच उद्यान में दूर एक कोने में वासंती विक्षिप्तावस्था में जाती दिखायी पड़ती है और सेनापति मलयवती को उसे बुलाने के लिए भेज देते हैं। वासंती उत्तेजित है, और वह सेनापति, अपने पिता, व्यवस्था आदि पर मीठे व्यंग्य करती है और विदिशा के मुक्त राजबंदियों द्वारा काशी पर के आक्रमण का दबे-दबे विरोध करती है।

विक्रममित्र वासंती की व्यथा को भाँप जाते हैं और बताते हैं कि वे न तो काशिराज से घृणा करते हैं और न तो उन्होंने किसी बुरे उद्देश्य से वासंती का अपहरण करवाया है। यह तो जाति की प्रतिष्ठा की बात थी। वासंती को क्या मालूम कि उसका विवाह पचास वर्षीय यवन से होने जा रहा था। वासंती ने उसे देखा भी नहीं था। वे आततायी नहीं, बौद्ध-विरोधी भी नहीं। तथागत तो हमारे बीच ही पैदा हुए थे। यह तो बौद्धों का देश-द्रोह है जिसने तलवार उठाने को बाध्य कर दिया है। सेनापति ने यह भी बताया कि वासंती अक्षतयौवना कुमारी है, इसकी साक्षी वे स्वयं हैं। यह सुनकर वासंती विचलित हो उठती है। उद्यान की ओर से बाजे की ध्वनि आती है, विक्रममित्र जल्दी से उठकर उधर ही चल देते हैं। मलयवती और वासंती रह जाती हैं और आपस में प्रेमचर्चा करती हैं। मलयवती पूछती है कि अब बोल तू किससे विवाह करेगी। वासंती ओठ काटती हुई मलयवती के प्रेमी कुमार विषमशील का नाम लेती है। मलयवती थर-थर काँपने लगती है और उस कथन को सत्य मानने लगती है। वासंती उसे पुरानी बातों की याद दिलाती है कि उसने कभी कहा था—एक वृक्ष के सहारे कई लताएँ खड़ी हो सकती हैं······आदि। वासंती उस पर भी कतिपय तीखे-मीठे व्यंग्य करती है कि हलोदर की बाहें पकड़े विक्रममित्र का प्रवेश होता है। कुमारियाँ द्वार के किनारे हो जाती हैं। हलोदर कक्ष की कलात्मक रूप-सज्जा की प्रशंसा करता है और नाचने लगता है और भाव-गद्गद् हो कहने लगता है कि यवनों की सारी विद्या भारत से ही गयी थी, इसीलिए तो उसके पूर्वज भारत की धरती पर आते ही भारतीय बन गये मन-वचन-कर्म-धर्म—सबसे। सिर्फ शाकल के यवन विरोधी बने रहे, पर इसमें उनका दोष नहीं, बौद्ध नागसेन ने बौद्धधर्म की रक्षा के लिए हिन्दू धर्म को उखाड़ फेंकना अत्यावश्यक समझा और इसके लिए उसने शाकल के यवनों को उसी तरह ढाला। हलोदर ने बताया कि तक्षशिला के यवन शाकल के यवनों को रास्ते पर ले आते, पर वे स्वयं हूणों और शकों से घिर गये। उसने यह भी सूचना दी कि शाकल के यवन अभी भी विद्रोहाग्नि पाल रहे हैं और बौद्धों के बहकावे में आकर वे किसी क्षण कुछ भी कर सकते हैं। उसे जब उच्चासन पर बैठाया जाता है तो वह यह कह कर नहीं बैठता कि जब-

तक सेनापति नीचे बैठ रहेंगे, वह भी नीचे ही बैठेगा। फिर वसुमित्र की कीर्ति का बखान होता है और इसीमें यह रहस्य खुलता है कि तक्षशिला के यवन वसुमित्र द्वारा ही शैवमंत्र से दीक्षित हुए थे और तभी से उनका राज्यचिह्न नन्दी का चित्र बना था। विक्रममित्र ने बताया कि कालिदास उसी गाथा को 'कुमारसंभव' का रूप दे रहे हैं। हलोदर कालिदास के विषय में जानना चाहता है। विक्रममित्र बताते हैं कि उसका असली नाम मेघरुद्र है और वह बचपन में ही बौद्धों के प्रपंच में फँस कर विदिशा में भिक्षाटन करता था। एक दिन वह नदी किनारे उस पार के विहार में जाने के लिए खड़ा था कि मैं भी पर्यटन करता हुआ वहाँ पहुँचा। तीन खेवा नाव आयी-गयी पर वह आकाश में आँखें गड़ाये खड़ा-का-खड़ा ही रहा। केवट चिल्लाते रहे, पर वह इस धरती पर था ही नहीं। मुझे विश्वास हो गया कि यह कोई भावी महापुरुष वाल्मीकि और पतंजलि का उत्तराधिकारी है—उसके ललाट पर गंभीर चिन्तन की आभा झलक रही थी। उसके सिर पर मैंने जो हाथ रखा तो वह इस तरह चौंक पड़ा कि यदि मैं फिर न पकड़ लेता तो निश्चय ही गिर पड़ता। उसके हाथ का भिक्षा-पात्र लुढ़का—नदी के जल में गया, भरा और डूब गया। मेघरुद्र को नया जन्म मिला। उसका जन्म काशी और कोशल के संगम पर सरयू के निकट किसी ब्राह्मण-कुल में हुआ था। अब तो वह मेरा ही पुत्र माना जाता है और मेरे स्नेह के चलते लोगों को सत्य बात ही काल्पनिक मालूम पड़ती है। उसने पन्द्रह वर्ष की अवस्था में मेघदूत की रचना की थी, पिछली बार जब कि हलोदर गरुड़ध्वज की स्थापना के लिए विदिशा आया था, उसी समय। एक वर्ष तो उसके मुँह से वाणी निकली ही नहीं, और जब निकली थी तो अमृतवाणी थी। रात में वह जो श्लोक बनाता, प्रातः काल ही पाँच योजन तक फैल जाता। उसका पालन मैंने ठीक उसी तरह किया, जैसे वह मेरे वंश का ही नहीं, मेरे इस शरीर का हो। उसके रहते हुए मुझे निःसन्तान होने का खेद नहीं रहा। हलोदर को यह जान कर आश्चर्य ही हुआ कि कालिदास विक्रममित्र का अपना पुत्र नहीं। उसे इससे भी बड़ा आश्चर्य यह जान कर हुआ कि मेघदूत का कवि ही काशी का विजयी वीर भी है। वहाँ बिना रक्तपात के उसने विजय-श्री प्राप्त की। कालिदास ने साकेत की सेना को

गंगा-पार होने ही नहीं दिया, अपनी सेना को भी एक योजन पीछे हीं छोड़ दिया और सिर्फ एक सैनिक पुष्कर के साथ काशिराज के भवन में निर्भय चला गया। देश के गौरव और उसकी रक्षा का वह चित्र उसने वहाँ खींच दिया कि परिषद् के बड़े-बड़े मंत्री और विकट बौद्ध तार्किक उसका मुँह ही देखते रह गये। और अब काशिराज, देवभूति और अपहृत यवन-कन्या कौमुदी सभी विदिशा आ रहे हैं।

इसी क्रम में सेनापति विक्रममित्र ने अपने लक्ष्य की भी चर्चा की—भगवान् वासुदेव और महाकाल शंकर वह दिन भी दिखायें, मेरे इस जीवन की अभिलाषा पूरी हो। गरुड़ध्वज की छाया में सारा अन्तर्वेद, मध्यदेश, और उत्तरापथ शांति, सुख और संतोष की साँस ले, कर्म-ओज की वाणी कालिदास के काव्य से निकलती रहे······और फिर एक ही नहीं और भी कालिदास जन्म लें।

हलोदर सम्राट् अन्तिलिक के उपहार प्रस्तुत करता है। अन्य सामग्रियों में से वह हाथ भर ऊँचा शुद्ध सोने का गरुड़ध्वज निकालता है और अन्तिलिक की यह इच्छा प्रकट करता है कि उसे सिंहासन के अग्रभाग में स्थापित किया जाय। विक्रममित्र गद्गद् हो जाते हैं। हलोदर दूसरा उपहार प्रस्तुत करता है—अपनी तक्षणकला के लिए प्रसिद्ध शिल्पी शीलभद्र को अन्य चार शिष्यों-समेत आपकी सेवा के लिए सम्राट् ने भेजा है। पुनः सम्राट् की प्रार्थना है कि आप इन्हें, तक्षशिला के कोष से सौ गरुड़स्तम्भ बनाने की आज्ञा दें। सभी अतिथिशाला चले जाते हैं। मान्धाता यह सूचना देते हैं कि वहाँ काशिराज, देवभूति, कौमुदी और कालिदास आदि भी उपस्थित हैं। मंच एकदम खाली हो जाता है कि वासंती का मोर उड़ता हुआ आ जाता है, उसके पीछे प्रसन्न मुद्रा में वासंती भी आ जाती है। पुनः उद्यान की ओर से कालिदास आ जाते हैं। दोनों एक-दूसरे को देखते हैं। कालिदास पूछते हैं कि आचार्य कहाँ हैं? वासंती भाव-विभोर है। रुकने का संकेत कर दौड़ जाती है और विजयी कालिदास के गले में, लौटकर माला पहरा देती है—"इस विजय के उपलक्ष में कवि! आपने ऐसी विजय प्राप्त की जिसका अनुमान भी नहीं हो सकेगा।" तबतक विक्रममित्र लौट आते हैं और कहते हैं—गरुड़ध्वज, सिंहासन सभी साक्षी हैं, यह माला तुम्हें मिली है। वासंती

धरती खुरचने लगती है, कालिदास विस्मय में पड़ जाते हैं, विक्रममित्र के चरणों पर सर रखते हैं कि हाथ की माला भी समर्पित हो जाती है। वे कहते हैं कि काशिराज वासंती और कालिदास—दोनों को माँग रहे हैं। कालिदास यह इच्छा प्रकट करते हैं कि वे यहीं रहेंगे—कुमार विषमशील का राजकवि अंतरंग सखा बन कर रहेंगे। वासंती भी विदिशा नहीं छोड़ना चाहती।

तीसरा अंक :—तीसरा अंक अवंती के महाकाल के मंदिर में, शंखों, घंटों और मंत्रों की ध्वनि के बीच शुरू होता है। महिलाओं और राजभृत्यों की चहल-पहल है। मलयवती और वासंती द्वार पर उपस्थित होती हैं, भीतर से त्रिपुण्ड-धारी पुजारी प्रकट होता है। वासंती पुजारी को राजमाता सौम्यदर्शना की ओर से पूछती है कि कुमार की कोई सूचना मिली? पुजारी युद्ध का पूरा संवाद सुनाता है। संकट टल गया है, शक हारकर भाग गये हैं, उसका सेनापति वंदी कर लिया गया है। मलयपुर और प्रतिष्ठान की सेना दक्षिण से, कुमार शतकर्णि और कार्तिकेश्वर के संचालन में कार्य कर रही है। पूर्व की ओर से अवंती, विदिशा और साकेत के माण्डलीक हैं। स्वयं सेनापति विक्रममित्र, कालिदास और मान्धाता के साथ पूर्व और उत्तर की सेनाओं के बीच बीस हजार सैनिकों के साथ युद्धभूमि में उतरे हैं। भीमसेन के अवतार माण्डलीक भीमराज उनके साथ हैं। काशिराज ने धर्म-परिवर्तन कर लिया है। वे शैव बन गये हैं और कालिदास को अपना घर-जमाई बनाना चाहते हैं। यह बात चल ही रही थी कि माता सौम्यदर्शना आ जाती हैं, पुजारी उन्हें मृत्युञ्जय की विभूति देता है। पुजारी इस पर संतोष प्रकट करता है कि शकों को परास्त करने के लिए आज सारा आर्यावर्त एक हो गया है। स्वयं कुमार विषमशील मान्धाता और कालिदास के साथ युद्ध के पिछले भाग में खड़े हैं। पुनः काशिराज आते हैं और वासंती से कहते हैं कि वे युद्धभूमि की ओर से आ रहे हैं। उन्हें परिताप है कि यौवन 'बुद्धं शरणं गच्छामि' गुनगुनाते हुए बीत गया, वृद्धावस्था में तलवार ही नहीं उठती। भीमराज को देखो, किस हौसले से शत्रुओं को विदीर्ण करता हुआ बढ़ता चला जाता है, वे मनमसोस कर रह जाते हैं। वासंती रोती हुई कहती है कि

यही बात यदि वे पहले समझ पाते, देश को आज यह दुर्भाग्य नहीं देखना पड़ता। परिताप में काशिराज मूर्च्छित हो जाते हैं कि विषमशील, कालिदास और मान्धाता उपस्थित होते हैं। विषमशील काशिराज के धर्म-परिवर्तन को अपनी विजय का टीका समझता है, वैद्यराज चक्रपाणि को उपचार के लिए बुलावा भेजा जाता है। पर कालिदास कहते हैं कि वे काशिराज का उपचार करेंगे। तबतक चक्रपाणि भी आ जाते हैं और औषधि देते हैं।

और अब कुमार विषमशील युद्ध का वास्तविक विवरण देते हैं चक्रपाणि को। कालकाचार्य जैन और बौद्ध शकों का साथ दे रहे थे। यह सूचना काशिराज ने ही दी थी कि जैनों और बौद्धों की एक विशाल देशद्रोही सेना मौके की तलाश में है। आर्यवीर उस ओर से निश्चिन्त थे। यदि काशिराज की यह सूचना समय पर नहीं मिलती तो युद्ध का पासा ही पलट जा सकता था। जिस समय यह सूचना मिली, हम शत्रु-सैन्य में भीतर तक धँस चुके थे। यह तो सेनापति विक्रममित्र का प्रत्युत्पन्नमतित्व था कि धनुर्धर कार्तिकेश्वर को उधर मोड़ा गया। उनके बाणों की वर्षा तो प्रसिद्ध है ही। कालकाचार्य भी वीर हैं, हमारे तीन ओर वे विजली की तरह बड़ी क्षिप्रता से फैल गये और विषाक्त भल्ल फेंकने लगे। कार्तिकेश्वर न आ जाते तो......। कालकाचार्य रथ और शस्त्रविहीन होकर निकल भागा। काशिराज बताते हैं कि कालक की प्रत्यंचा मान्धाता के बाणों से कटी थी।

कालिदास, भावना के अत्युच्च शिखर पर से अपने विचार प्रकट करते हैं— इस पुण्यभूमि का ऋण था इन महावीरों पर। माता और मातृभूमि दोनों एक ही हैं। भारत के महावीर आज मातृऋण से उऋण हुए हैं। अब तो इन महावीरों का ऋण कुमार विषमशील के कंधों पर आ पड़ा है। मातृभूमि का शेष उद्धार अब विषमशील को करना है। कुमार विषमशील महाकाल के सामने प्रतिज्ञा करते हैं कि कालिदास के लिए, कालिदास के काव्य के लिए, कालिदास की वाणी के ओज के लिए वे इन शक क्षत्रपों का विध्वंस करेंगे। जातीय परम्परा के प्रति श्रद्धा और अनुरक्ति ही उनकी श्री होगी। इसी समय सेनापति विक्रममित्र, कुमार शातकर्णि, भीमराज और कार्तिकेश्वर क्षत्रप चंचु को पकड़े हुए, ठेलते हुए उपस्थित होते

हैं। महाकाल, गरुड़ध्वज, विक्रममित्र, काशिराज और विषमशील का जय-जयकार होता है। वे वीरोचित दर्प से चमक रहे हैं, वृद्धों के शिथिल स्नायु-जाल में भी एक इस्पाती कसावट आ गयी है। सेनापति विक्रममित्र की प्रशंसा करते हुए काशिराज, कालिदास की माँग करते हैं। विक्रममित्र वात्सल्य से भर जाते हैं फिर भी काशिराज को 'नहीं' नहीं कह सकते। वे सुझाव देते हैं कि यह वरदान राजमाता से ही माँगा जाय। काशिराज प्रस्थान करते हैं कि भीमराज उपस्थित होते हैं, फिर सभी विजयी वीरों के साथ एक अपरिचित जटाधारी साधु। साधु आते ही शकराज चंचु का न्याय करने की माँग करता है—इसलिए कि वह केवल युद्धबंदी ही नहीं, अवंती के राजभवन, उद्यान और मंदिरों का भी संहारक है। अलका को भी लज्जित करनेवाली अवंती को निर्वसन करने का एकमात्र भागी यही चंचु है। चंचु धिक्कारता है साधु को—कि यह सब उसीने कराया; शक जाति निर्माण नहीं जानती, सिर्फ संहार और संहार। साधु के परिचय के विषय में सब में उत्कंठा जगती है! साधु कोई और नहीं कालकाचार्य ही है। वह कहता है कि वह इसीलिए यहाँ उपस्थित हुआ है कि जाति-गुण के अनुसार कहीं भारतीय शकराज को क्षमा न कर दें। हाँ, दोष उसका भी है—धर्ममदान्धता के चलते उसने भी देश-द्रोह किया है। इसी क्रम में चंचु कालकाचार्य के सभी कुकृत्यों पर प्रकाश डालता है। कालकाचार्य अपने और चंचु—दोनों के लिए प्राणदंड की कामना करता है। विक्रमशील क्रोध में उत्तर देते हैं—यही होगा। पर विक्रममित्र समझाते हैं—जो हो चुका सो हो चुका। इनके प्राणदंड से कुछ लौटने को नहीं। राजमाता धैर्य से काम लेकर इन्हें क्षमा कर सकती हैं। हमारी ही तरह ये भी मनुष्य हैं। इनके साथ मानव का-सा व्यवहार होना चाहिये। वे कालक से कहते हैं कि यदि वह प्रकृति-धर्म के निर्वाह का वचन दे तो अवंती उसे दे दी जा सकती है। कालक विरोध करता है और कहता है कि वह अपने पिछले पापों को अपने रक्त से धोने आया है। यहाँ भी कालिदास की वीरता का बखान होता है। पिछले इतिहास के भूले हुए परिच्छेदों पर प्रकाश डाला जाता है। कालक चंचु को मल्लयुद्ध का आह्वान करता है। चंचु कहता है—तुमने मुझे बुलाया, बुलाकर स्थान न दोगे तो मैं ठेलूँगा ही।

इसमें मेरा कोई दोष नहीं। मेरे नख और दंत अभी काफी मजबूत हैं, भिड़ लो। तुम रत्नों को दीवाल में जड़ने की मूर्खता करते हो, मेरे चत्रप उन्हें अपने भाण्डार में स्थान देते हैं। वषमशील क्रोध में आकर चंचु की जीभ काट लेना चाहते हैं पर विक्रममित्र प्रबोध करते हैं—धैर्य से सब सुनो। विक्रममित्र महादेवी से न्याय कराने को कालक और चंचु के साथ उनके पास जाते हैं, इधर विषमशील और कालिदास में चर्चा होती है। कुमार का कहना है कि यदि कालक को प्राणदण्ड नहीं मिला तो वे अवंती छोड़ देंगे। कालिदास आचार्य और महादेवी से न्याय में विश्वास रखने की सान्त्वना देते हैं और यह सूचना देते हैं कि आचार्य संन्यास लेंगे, और मैं आपके संरक्षण में रहूँगा। विषमशील कालिदास से वासंती के सम्बन्ध को लेकर कुछ परिहास करते हैं। कालिदास अपने मन की बात कहते हैं—'कामिनी से जो कुछ मिल सकता है उससे बहुत अधिक मुझे अपने काव्य में मिल रहा है।' फिर वे यह आशंका भी प्रकट करते हैं कि उनके ऐसे अज्ञात कुलशील को कौन अपनी कन्या देगा। काशिराज मौका चूकना नहीं चाहते। वे झट अपनी पुत्री वासंती के साथ अपना राज्य देने को भी तत्पर हो जाते हैं। विक्रममित्र अचानक प्रवेश कर गरुड़ध्वज के सामने माला पहिराने की घटना की याद दिलाते हैं और प्रचलित लोक-कथा का आश्रय लेते हुए कहते हैं—'तुम जिस डाल पर खड़े हो उसीको काट रहे हो। इस अवस्था में अपने दाम्पत्य कर्म से भागना अपने आधार से भाग खड़ा होना है।' सेनापति का निर्णय मूक आदेश भी है, यह सभी जानते हैं। कालिदास नतशिर हो जाते हैं। सेनापति विषमशील को भी संकेत देते हैं कि उनके लिए भी मलयवती चुन ली गयी है। अंत में यही निश्चित भी होता है। काशी का राज्य भी विषमशील को मिल जाता है, जिससे कि कालिदास उन झंझटों से मुक्त होकर सरस्वती की आराधना कर सकें।

अब कालिदास और विषमशील एकांत में एक-दूसरे को ठोंगे मार-मार कर परिहास करते हैं—मलयवती और वासंती के अपने-अपने भावी सम्बन्धों को लेकर। कालिदास अपनी प्रेयसी चिरकुमारी कल्पना और अपनी भावी पत्नी वासंती की तुलना करते हैं और असमंजस में पड़ जाते हैं कि कहीं वासंती के

चलते कल्पना रूठ तो नहीं जायगी। इसी बीच मान्धाता आकर सेनापति का आदेश सुनाता है कि वे सभी महाकाल के मंदिर में चलें, कुमार विषमशील का राज्याभिषेक होगा। वह यह भी बताता है कि राजमाता ने कालक को क्षमा कर दिया है और आदेश दिया है कि वे अवंती का नये सिरे से निर्माण करें। विषमशील क्षमा की बात पर बिगड़ जाते हैं तब तक विक्रममित्र आदि आ जाते हैं। कुमार को समझाया जाता है, नीति, कूटनीति, राजनीति, समाज-नीति आदि की दुहाई दी जाती है। कालक उपस्थित होकर अपने जैन-मठ का सारा अटूट धन अवंती के नवनिर्माण के लिए दे देने की घोषणा करता है। शकराज चंचु भी हर्ष प्रकट करते हुए यह घोषणा करता है कि तीस सहस्र शक-बंदी शारीरिक परिश्रम से इस निर्माण में सहायता प्रदान करेंगे। तक्षशिला के शिल्पी शीलभद्र नया मानचित्र तैयार कर रहे हैं—यह सूचना विक्रममित्र देते हैं।

राज्याभिषेक के पश्चात् देवभूति और कौमुदी उपस्थित किये जाते हैं। कौमुदी अपहरण की सारी कथा कहती है और देवभूति के प्रति अपना आत्म-समर्पण प्रकट करती है। उन्हें भी क्षमा मिलती है। विषमशील का नया नाम-करण होता है—विक्रमादित्य और उसी दिन से विक्रम संवत् का प्रवर्त्तन होता है।

——

पात्रों का चरित्र-चित्रण

कालिदास

मेघों के कवि कालिदास का असली नाम मेघरुद्र था, और वे हृदय से कवि, शरीर से योद्धा तथा मस्तिष्क से दार्शनिक थे। उनमें शक्ति, शील और सौन्दर्य का विरल संयोग था। उन्हें न केवल सरस्वती, बल्कि दुर्गा और लक्ष्मी भी सिद्ध थीं। सरस्वती उनकी जीभ पर वास करती थीं, दुर्गा उनकी भुजाओं पर समासीन थीं और लक्ष्मी तो उनकी चरण-सेवा के लिए बार-बार दुत्कारे जाने पर भी सदैव तत्पर रहती थीं। वे एक साथ ही वाल्मीकि और पतंजलि, परशुराम और कुबेर के उत्तराधिकारी थे।

गरुड़ध्वज का कालिदास अमित शक्ति का पुंज है। जब आचार्य विक्रममित्र देवभूति के व्यभिचार की कहानी सुनकर काशिराज पर पुष्कर के साथ आक्रमण करने की आज्ञा उसे देते हैं तो वह स्पष्टतः कहता है—"नहीं तो आप से शस्त्र का अध्ययन किया क्यों?" वह ऐसा विकट साहसी है कि अपनी सेना को एक योजन पीछे छोड़कर अत्यन्त आत्मविश्वास के साथ काशिराज के भवन में सिर्फ एक सैनिक को साथ लेकर निर्भय चला जाता है और "युद्ध की इस एक विस्मयजनक पद्धति" के कारण बिना किसी रक्तपात के सब को विदिशा ले आता है। अवंती के शक-युद्ध में वह सदैव कुमार विषमशील के साथ रहता है और युद्ध के समय उसकी आकृति पर प्रोद्भासित विश्वास और निष्ठा की ऐसी मेरुप्रभा थिरक रही थी कि विद्वान्-वीर कालका चार्य की सारी कालिमा जलकर स्वाहा हो गयी।

गरुड़ध्वज का कालिदास अप्रतिम शील का आगार है। वह 'अक्षय शील-सम्पत्ति' का कुबेर है। सेनापति विक्रममित्र के सामने उसके ओजस्वी छंद भी काँप-काँप जाते हैं। कुमारी वासन्ती के सतत प्रवाहित आँसुओं की बाढ़ रोकने में वह एक क्षण के लिए भी शील और मर्यादा का अतिक्रमण नहीं कर पाया

और जब वासन्ती ने गद्गद् होकर उसके गले में पुष्पमाला डाल दी तो वह उसे "काशी से बिना रक्तपात के सकुशल काशिराज को विदिशा तक पहुँचा देने की कृतज्ञता" का फल समझता है। यह बात नहीं कि वासंती उसके हृदय को छू नहीं पायी, उसका मन तो वासंती की "वीणा के स्वरों पर चढ़कर कहीं" दूर चला जाया करता था। पर अब यह जान कर कि वही उसकी पत्नी होगी, वह "हिल रहा" है। वह विनीत है, अतिशय विनीत। सेनापति विक्रममित्र के सम्पूर्ण वात्सल्य के बावजूद वह समझता है कि "किसी को विश्वास कैसे होगा कि मेरा जन्म किस वंश में हुआ था और मेरे जैसे अज्ञात कुलशील को अपनी कन्या भी कौन देगा।" वासन्ती के सम्पूर्ण स्नेह का अधिकारी होने के बावजूद वह निष्कर्ष निकालता है कि "कामिनी से जो कुछ मिल सकता है उससे बहुत अधिक मुझे अपने काव्य में मिल रहा है। उस बेचारी के लिए इस मन में कहाँ जगह मिलेगी जिसमें पार्वती आ चुकी है।" यह बात नहीं कि कामिनी का अभाव उसके मन में कोई मीठा दर्द नहीं पैदा करता, कोई उत्तेजना नहीं भरता, उसके हृदय को कभी गुदगुदा नहीं देता, चिकोटी नहीं काट लेता, किसी अत्यन्त सूक्ष्म नस को चुटकी से मसल नहीं देता, पर वह तो अब उस सम्पूर्ण अभाव को "पार्वती-शंकर के प्रेम में पूरा किये बैठा है।" पार्वती-शंकर के राग ने उसे किसी भी कामिनी की ओर से वीतराग बना दिया है। "कोई भी कुमारी जब मेरे सामने आती है, मैं उससे उसी तरह भय खाता हूँ जैसे वह स्वयं पार्वती हो।"

गरुड़ध्वज के कालिदास के पैर, बार-बार दुत्कारे जाने पर भी लक्ष्मी पखारना नहीं छोड़ती। बौद्ध मठ से अपने उद्धार के बाद से ही वह स्वर्ण और रत्नों से खेलता रहा है। सेनापति आचार्य विक्रममित्र ने "ब्राह्मण कुमार मेघरुद्र को ठीक राजकुमार की तरह विभव और ऐश्वर्य में लपेटकर भौतिक विलास और मानसिक आत्म गौरव की अपनी परंपरा की कमी को पूरा कर लिया है।" उसके अप्रतिम शील और संयम पर रीझकर जब काशिराज "अपनी कन्या के साथ-साथ अपना राज्य भी अर्पण" करते हैं तो वह स्पष्ट कहता है—"मेरे प्राप्य कोई राज्य नहीं है कुमार। मैं किसी धरती पर राज्य क्या करूँगा!" वह काशिराज का कन्यार्पण स्वीकार भी कर ले, पर राज्यार्पण तो कदापि नहीं

जब काशिराज काशी को अवंती में मिला देने की बात कहते हैं तो कालिदास को कोई संकोच नहीं होता—"यही तो मैं चाहता था।"

गरुड़ध्वज का कालिदास, कुमार विषमशील का अंतरंग सखा है, वैसा ही जैसा कि चन्दवरदायी पृथ्वीराज का, या विद्यापति शिवसिंह का। वह राज्य इसीलिए छोड़ देता है कि उसे उसके नियमनहेतु कुमार से दूर रहना पड़ेगा। वह अपने जीवन की चरमावधि यही समझता है कि वह कुमार का अंतरंग सखा बना रहे। वह किसी धरती पर राज्य नहीं करना चाहता—"मेरा राज्य होगा कुमार विषमशील और मलयकुमारी मलयवती पर।"

और सर्वोपरि,—गरुड़ध्वज का कालिदास, अंततः भारत का सर्वश्रेष्ठ कवि है। पन्द्रह वर्ष की आयु में ही उसने उस मेघदूत की रचना की थी जिसमें उत्तराखंड का संपूर्ण प्राकृतिक वैभव झलमला उठा है। अभी वह 'कुमार संभव' के नौ सर्ग लिख चुका है जिसमें तपस्या और सौख्य का एकीकरण हो रहा है। उसी की वाणी में वह जादू है कि काशिराज के उन परिषदों और संघ स्थविरों की भी "सभी विद्या लुप्त हो गयी जिनके तर्क से ये पृथ्वी और आकाश भी हिल जाते थे, जिनके एक-एक आक्षेप पर विष्णु और शंकर के आसन डोल जाते थे।" काशिराज के बौद्ध-दरबार में "देश के गौरव और उसकी रक्षा का वह चित्र उन्होंने वहाँ खींच दिया कि परिषद् के बड़े से बड़े मंत्री और विकट बौद्ध तार्किक उनका मुँह देखते रह गये।" वह चिरकुमारी कल्पना का सहचर है और इसका उसे गर्व है कि वह कवि है—"लोक में पत्नी का जो अर्थ है मेरे लिए वही नहीं होगा। मैं वहाँ भी कवि रहूँगा।" वह सन्तानोत्पत्ति से अधिक महत्त्व अपने काव्य को देता है। उसकी रचनाएँ ही उसकी सन्तान हैं—"कवि की सन्तान तो उसकी रचना है। वासंती से मैं काव्य उत्पन्न करूँगा···कोई दूसरी सन्तान नहीं। आचार्य विक्रममित्र को मेरे भीतर पुत्र मिला था और मैं वही पुत्र पाऊँगा अपने काव्य में।"

———

विक्रममित्र

गरुड़ध्वज के विक्रममित्र एक साथ ही कठोर नीतिज्ञ, राजनीतिज्ञ, धर्मपरायण, बालब्रह्मचारी, राष्ट्रवादी और वीर सेनानी हैं। आचार्यत्व और सेनापतित्व, वात्सल्य और ब्रह्मचर्य, राष्ट्रीयता और धार्मिकता का विरल मणिकांचन संयोग हुआ है इनके चरित्र में। इनका चरित्र इस नाटक में उस हिमालय की तरह विराट् और महान् चित्रित हुआ है जिसके सामने सभी नतमस्तक-से दीखते हैं, बौनों-से लगते हैं, और इसीलिए इस नाटक के वास्तविक सूत्रधार वही हैं। वे चट्टान की तरह दृढ़ पर मोम की तरह कोमल हैं। उनके लौह व्यक्तित्व में मसृणता है, उनके भावुक हृदय में भी एक दृढ़ता है।

गरुड़ध्वज के विक्रममित्र सत्तासी साल के एक ऐसे बालब्रह्मचारी हैं जिन्होंने भीष्म की तरह "गृहकलह को शांत करने के लिए विवाह किया ही नहीं······जो जानते ही नहीं रमणी का आकर्षण क्या वस्तु है, सन्तान की कल्पना भी जिन्हें नहीं हुई।" पर इस कठोर चट्टान के बीच में वात्सल्य की एक ऐसी मधुर धारा प्रवाहित होती है कि वे "कालिदास के लम्बे केश अपने हाथों से इधर-उधर हिलाया करते थे जैसे—आप उन बालों से अपना सारा स्नेह, सारा वात्सल्य कसकर बाँध देते थे। आपकी आँख में वही मोह छा जाता था जो पुत्र के प्रति पिता के आँखों में छा जाता है।" मलयकुमारी मलयवती और काशी की राजकुमारी वासंती की बालहठों के सामने उनकी अवस्था एक सामान्य पिता की तरह हो जाती है। वे स्वयं कहते हैं—"मृत्यु के किनारे पहुँचकर मैंने इन कुमारियों से संतान तुष्टि की कामना जो की······जो कहीं किसी से नहीं हारता अपनी ही संतान से हार जाता है।" यह उक्ति मर्यादा पुरुषोत्तम, भगवान् रामचन्द्र की उस उक्ति की याद दिलाती है जो कि उन्होंने लंका-युद्ध में लक्ष्मण को शक्ति-बाण लगने पर कही थी—"जगत न मिलहिं सहोदर भ्राता।"

विक्रममित्र का व्यक्तित्व अत्यन्त ही ओजस्वी और प्रभावशाली है, इस तरह कि कालिदास तक को "उनकी आँखों की ओर देखने का साहस नहीं होता।" उनका जीवन एक खुला हुआ ग्रन्थ है—"मेरे साथ जो कुछ लगा है, संसार के के लिए खुला है। मैं कहीं भी कुछ नहीं छिपाता।"

विक्रममित्र दुर्द्धर्ष राष्ट्रवादी और अप्रतिम राजनीतिज्ञ हैं। वे शासक के रूप में सतत जागरूक रहते हैं—"निश्चिन्त हो जाने का अर्थ है असावधान हो जाना।" उनका निष्कर्ष है—"पराजित जाति में शास्त्र-चर्चा सबसे नीची कोटि का अज्ञान और विडम्बना है।" व्यक्ति शास्त्रहीन होकर रह सकता है, पर शस्त्र-हीन होना तो आत्महत्या के समान है।" शास्त्र का जन्म शस्त्र के बहुत पीछे हुआ।......शास्त्रहीन होना पुरुष के लिए लज्जा की बात नहीं है, लज्जा की बात तो है शस्त्रहीन होना।" शस्त्र की रक्षा में ही शास्त्र पनपता है, अंकुरित और पुष्पित होता है। "शस्त्ररक्षित राष्ट्र में ही पतंजलि और कालिदास पैदा होते हैं।" उनकी दृढ़ धारणा है कि—"महाकवि की प्रेरणा महावीर पर ही टिकी रहती है......ऐसे महावीर पर जो लोक-रंजन और लोक-कल्याण कर सके।" वे सेवा-भाव को विश्व का सर्वश्रेष्ठ गुण समझते हैं। यह भाव है जिसमें कोई उन्माद नहीं रहता, अहंकार निःशेष हो जाता है। सेवक भी कभी तुच्छ होता है?"

विक्रममित्र कठोर अनुशासन-प्रिय व्यक्ति हैं। कल जिस व्यक्ति की वीरता पर प्रसन्न होकर उन्होंने "सिंह पराक्रम" की उपाधि प्रदान की थी, उसी पुष्कर के मुँह से अनजाने सेनापति के स्थान पर अपने लिए 'महाराज' संबोधन उच्चरित हो जाने पर वे दंड देने को तैयार हो जाते हैं। मर्यादा की मेखला, अनुशासन की शृंखला खोलना तो दूर झकझोरने का भी साहस किसी में नहीं।" विक्रम-मित्र विधान नहीं तोड़ेगा। "...इसीलिए तो कह रहा हूँ मेरा प्राण माँग ले, यह मेरा है; किन्तु स्वर्गीय पूज्यपाद पुष्यमित्र ने इस वंश के लिए जो प्रतिज्ञा की वह नहीं टूट सकती। उस पर मेरा कोई अधिकार नहीं।" विक्रममित्र प्राण देकर भी अनुशासन और मर्यादा की रक्षा करेंगे। उनके वंश का अंतिम दीप देवभूति भी जब मर्यादा का अतिक्रमण करता है तो वे महाकाल बन जाते हैं,

क्रोध से काँपने लगते हैं और आदेश देते हैं कि उसे और उसकी रक्षा करनेवाले काशिराज को आक्रमण कर पराजित किया जाय। "विक्रममित्र पक्षपात और नियमभंग का दोष अपनी कन्या के प्रेम में पड़कर भी नहीं ले सकता।"

गरुड़ध्वज के विक्रममित्र हलोदर के शब्दों में "देश के प्राण हैं" और "हिमालय और समुद्र भी क्या इतने महान् हैं...पूर्ण हैं...जितने कि वे।" वे देश और राष्ट्र से इस तरह घुल-मिल गये हैं कि "इस युग के महत्त्व में ऐसे मिल जायेंगे कि फिर खोजे भी न मिलेंगे।" इतना होते हुए भी वे अतिशय सरल और विनीत हैं। वे किसी भी महानता का श्रेय व्यक्ति को न देकर भगवान् की प्रेरणा पर देते हैं। वे कहते हैं कि "आत्मस्तुति से प्रसन्न नास्तिक होते हैं। जब इस युग का सारा श्रेय मुझे दिया जाता है, मैं लज्जा और संकोच से मरने लगता हूँ राजदूत।" वे इतने निःस्पृह हैं कि अपने-अपने वंशजों आदि से ऊपर 'प्रजा' को, 'लोक' को महत्त्व देते हैं। कालिदास उनका प्रिय इसीलिए है कि उसका काव्य लोकनीति पर अधारित है—"सबसे प्रिय वह लोकनीति तो है" जिसकी प्रतिष्ठा उनके पूर्वजों ने की है और जिसकी रक्षा करने के लिए वे कटिबद्ध हैं।

उनका लक्ष्य महान् है—राष्ट्रीता और लोकतत्त्वों से ओतप्रोत है। उनके हृदय में बुद्ध-धर्म के प्रति कोई आक्रोश नहीं, सारी तितिक्षा तो उन बौद्धों के प्रति है जो घर को अंधकार में रख कर मस्जिद में दिया जला रहे हैं, राष्ट्रीयता की लाश पर अन्तर्राष्ट्रीयता, राष्ट्र प्रेम के खंडहर पर विश्वमैत्री का स्वर आलाप रहे हैं और इस प्रकार देशद्रोही बन गये हैं। वे चाहते हैं कि सनातन धर्म और शास्त्र-विधान चलता रहे, उनकी अंतिम इच्छा है कि "गरुड़ध्वज की छाया में सारा अंतर्वेद, मध्यदेश और उत्तरापथ शांति, सुख और संतोष की साँस ले...... कर्म ओज की वाणी कालिदास के काव्य से निकलती रहे......और फिर एक ही नहीं और भी कालिदास जन्म लें।" सुदृढ़ राष्ट्र की नींव पर, कभी न डोलनेवाली राष्ट्र-प्रेम की दीवारों पर, कला और संस्कृति का वह गरिमायुक्त गुंबज है—जिसका निर्माण करने के लिए विक्रममित्र जीवन भर दृढ़ प्रतिज्ञ, कटिबद्ध और सन्नद्ध रहे। यही उनकी महानता है।

विषमशील

कुमार विषमशील अवंती का राजकुमार है। शकों ने तेरहवर्ष पूर्व कालकाचार्य के साथ दुरभिसंधिकर उसके पिता महेन्द्रादित्य की हत्या कर दी थी और तब से अवंती शकों के हाथों में ही है। विषमशील और उसकी माता सौम्यदर्शना विदिशा में रह रहे हैं और वहाँ के सेनापति विक्रममित्र के साथ शकों को परास्त कर अवंती को पुनः हस्तगत करने का विचार कर रहे हैं। अवंती को प्राप्त किये विना सनातन-धर्म और वैदिक विधान की पूर्ण प्रतिष्ठा कठिन है और वहाँ से शकों को निकाले बिना आर्यावर्त्त की सम्पूर्ण स्वतंत्रता भी असंभव है। अवंती के राज्यकुल की वैदिक विधान माननेवाले राष्ट्रों में बड़ी प्रतिष्ठा है, इसीलिए उसकी स्वतंत्रता, संपूर्ण उत्तरापथ की स्वतंत्रता की प्रतीक है और वहाँ का राजकुमार संपूर्ण आर्यावर्त्त के लिए श्रद्धा और स्नेह का पात्र।

कुमार विषमशील वीर तो अवश्य ही रहा होगा, पर इस नाटक में भीमराज, मान्धाता, पुष्कर, विक्रममित्र और सर्वोपरि धनुर्धर कार्तिकेश्वर की वीरता के सामने उसकी वीरता इस तरह नहीं दिखायी पड़ती कि वह चमत्कृत कर दे, आश्चर्य में डाल दे और उल्लेखनीय बना दे। एक ही जगह उसकी वीरता की चर्चा जरा प्रभाव शाली ढंग से चित्रित की गयी है। मान्धाता ने बताया कि "कुमार का पहला बाण भैरव घोष को कण्ठ से ऊपर एक ओर और नीचे दूसरी ओर कर गया।" पर यह भी ठीक है कि वीरता का झूठा दंभ कुमार में नहीं। वह जानता है कि वास्तव में युद्ध में विजय किन कारणों और किसके कौशलों से हुई है। महाकालेश्वर के मंदिर के सामने जब सभी कुमार का जयजयकार करते हैं तो विषमशील उन्हें स्पष्टतः बताता है—"मेरी जय किसलिए ? मैं तो युद्ध में गया भी नहीं……जिन वीरों ने विदेशी दस्युओं का दर्प मिटाया है, उनकी जय बोलिये नहीं तो यह पृथ्वी फट जायगी, आकाश हिल जायगा। मित्रों, बोलिये महावीर भीमराज की जय, कुमार स्वाति शातकर्णि की जय,

ब्राह्मण कुमार कार्तिकेश्वर की जय......और हाँ परम पूज्य महात्मा काशिराज की जय......।" नाटक में ओर तो और कवि कालिदास भी विषमशील से बड़े वीर ठहरते हैं। कालक का यह कथन इसका प्रमाण है—"मैं देख रहा था, मेघरुद्र नहीं साकार अग्निदेव मुझ से युद्ध कर रहे हैं......जिनकी ओर देखने में मेरी आँखें झँप जाती थीं।"

संयम में भी कुमार विषमशील ओछा ही पड़ता है। कवि होने के नाते प्रेम कालिदास का प्रकृत क्षेत्र है, पर वहाँ अभूतपूर्व संयम दिखायी पड़ता है। वह प्रत्येक नारी में पार्वती का दर्शन करता है। पर विषमशील विवाहित होते हुए भी संयमी नहीं। जब विषमशील ने वासंती के साथ-साथ मलयवती से भी वरण करने का प्रस्ताव कालिदास के सम्मुख रखा तो कालिदास ने सत्य का उद्घाटन किया—"भूल गये विदिशा के प्रासाद का वह उपवन......घूम-घूम कर मलय कुमारी को आँखों से पी जाना चाहते थे......फिर तो श्रीमान् कुछ ऐसे आत्मीय हो गये कि मलय कुमारी का सारा भय छूमंतर हो गया और उन्होंने श्रीमान् को अपने सभी चित्र दिखाने के बहाने घड़ियों अपने कक्ष में रखा।"

कालिदास के साथ कुमार विषमशील की मित्रता भी नाटककार ने इस तरह उपस्थित की है कि वह कुमार के चरित्र में कोई उत्कर्ष नहीं लाती। यहाँ भी त्याग और बलिदान कालिदास के ही हिस्से में पड़े हैं। कालिदास मित्रता को बनाये रखने के लिए और विषमशील के साथ ही जीवन भरने के लिए काशिराज की दूसरी माँग तक को ठुकरा देता है। वह वासंती को ग्रहण कर लेगा, पर काशी के राज्य को नहीं। काशी का राज्य अवंती-राज्य में मिल जाता है। वह स्वयं कुमार के साथ शकों के विरुद्ध युद्ध में सम्मिलित होता है और कुमार की रक्षा के लिए, उसे विजय दिलाने के लिए सदैव सचेष्ट रहता है। यहाँ भी विषमशील कालिदास के सामने नहीं ठहरते।

विषमशील यानी भावी विक्रमादित्य में अभी शिशुता पर्याप्त मात्रा में है—वह बिना आगा-पीछा सोचे हुए प्रतिज्ञा करता है और बाद चलकर स्वयं मुकर जाता है। जिस आक्रोश और आवेश के साथ उसने यह कहा था—"कालक को

प्राणदण्ड नहीं मिलेगा तब तो मैं अवंती छोड़ दूँगा" उसका निर्वाह वह नहीं कर पाया। पुनः मान्धाता जब यह संवाद सुनाता है कि महकाल के मंदिर में आपका अभी अभिषेक होगा, विषमशील तत्क्षण पूछता है—"कालक का न्याय हो गया ?" मान्धाता के यह उत्तर देने पर कि महादेवी ने उसे क्षमा कर दिया—विषमशील गरज उठता है—"कह दो मुझे यह कुछ स्वीकार नहीं है। मैं इस नगरी में नहीं रहूँगा। अभिषेक भी तब कालक का कर दिया जाय।" इस आक्रोश के ठीक दो पन्ने बाद ही विषमशील, विक्रममित्र के व्यक्तित्व के सामने ऐसा ढीला पड़ जाता है कि उसे कहना पड़ता हैं—"आपलोग चलें, मैं कवि के साथ आ रहा हूँ।" कालिदास से वह इस समस्या पर विमर्श शुरू ही करता है कि मलयवती और वासंती उधर ही आती दिखायी पड़ जाती हैं। बस, सारी प्रतिज्ञा ताख पर धरी की धरी ही रह जाती है। भावी विक्रमादित्य ने एक ही प्रतिज्ञा सम्पूर्ण नाटक में की और उसकी भी यह दशा !

जिस विक्रमादित्य के न्याय की प्रशंसा आज भी दो हजार वर्ष बाद भारतवर्ष कर रहा है, उसके द्वारा देवभूति का जो न्याय कराया जाता है, वह वस्तुतः न्याय का उपहास है। इसमें विक्रममित्र का संकेत स्पष्ट है, गो कि वे उससे अपने को सर्वथा अलग कर लेते हैं।

एक शब्द में, विषमशील, विक्रममित्र तो दूर कालिदास तक के सामने सभी पहलुओं से विचार करने पर एक बौना-सा ही लगता है।



वासंती

वासंती, गरुड़ध्वज नाटक के सभी पात्रों में सबसे अधिक कारुणिक है। काशिराज की एकमात्र संतान होने के बावजूद उसका यौवन जिस विकलता, बेबसी और दैन्य का शिकार होकर दमघोंटू वातावरण में तड़फड़ाता रहा वह अवर्णनीय है; विवाहित होने के बावजूद वह जिस प्रकार अपने पति का मुख तक न देख सकी, और जिस प्रकार उसने उसकी हत्या की ही पहली बात सुनी, वह अकथनीय है; बौद्ध और देशद्रोही पिता की कन्या होने के बावजूद वह जिस प्रकार देश के सबसे बड़े उद्धारक ब्राह्मण के घर में वर्षों हीन-भावना में साँस लेती रही, वह तो निश्चयात्मक रूप से एक गंभीर मर्मान्तक वेदना से पूर्ण है। वासंती वेदना की आँच में शनैः शनैः घुलती हुई मोम की स्निग्ध प्रतिमा है। वह सर्प-भक्षी मोर के साथ दिन-रात खेलती है, वेदना-स्वर से पूर्ण वीणा के तारों से चौबीसों घंटे उलझती रहती है। वह एक ऐसी कमलिनी है जो सेवार के पत्तों में उलझ गयी हो और खुलकर खिल नहीं पायी हो। यही कारण है कि आगमन के साथ ही वह अपनी सीख से कह देती है—"ऊँह! खोल फेंको इस मुकुट को, छू जाने के साथ ही जैसे सिर में डंक मारने लगता है।"

नाटक के पहले अंक में ही मलयवती ने उसकी हृतंत्री के उस तार को हलके छू दिया है जो सबसे अधिक टीसने वाला है, जो उसके अवरुद्ध प्रणय के मवाद से एकदम पूर्ण है। वह अपना हृदय खोल देती है। बौद्ध काशिराज ने काशी छोड़ कर अन्यत्र चले जाने का जब निश्चय कर लिया तो उन्होंने शाकल के पचास-वर्षीय यवन-राजकुमार को अपनी यह एकमात्र सन्तान सौंप दी। इसमें उनकी विवशता थी, देश का कोई भी हिन्दू राजकुमार उसे ग्रहण नहीं करता, और वह यवन-राजकुमार पिता के गुरु-भाई का पुत्र था। वासंती अपने उस पति के साथ काशी से चोरी-चोरी भाग निकली जिसका मुख भी अभी तक उसने नहीं देखा था। सेनापति विक्रममित्र ने अपने गुप्तचरों से पता लगा कर चारों ओर से रास्ता बंद कर

दिया। उसके साथ के सभी जन प्राण लेकर भाग निकले, कुछ दूर पर शस्त्रों की ध्वनि सुनायी पड़ी और उसके बाद सेनापति ने उसका उद्धार किया। यवनराजकुमार भाग निकला और मारा गया। उसकी मांग में सिंदूर की रेखा खिंची भी नहीं थी कि विक्रममित्र की तलवार ने उसके ललाट पर वैधव्य का टीका लगा दिया। यह सब इसलिए कि "अन्तर्वेद की कुमारी उस यवनदस्यु की भार्या कैसे बनेगी ?" यही एक हिन्दू सेनापति को दिखाना था। वासंती अतिशय परिताप में कहती है— "मैं कह रही थी, संसार से सभी धर्म मिट जाते, किसी दिन बौद्ध, वैष्णव, शैव कोई नहीं रहता। जिसकी चल जाती है अपने ही विश्वास की भूल को, चाहे उसे धर्म कहो चाहे और कुछ, दूसरों पर लादने लगता है। वह देखो, वह हरिण, वह मयूर और वह गोवत्स उनमें तो धर्म का कोई झगड़ा नहीं है। मनुष्य भी क्या उस तरह नहीं रह लेगा।"

इस खंडित प्रणय और पिपासित यौवन ने वासंती को अतिशय भावुक बना दिया है। वह "दुःख से जल रही है······और उसका दुःख इस धरती की सीमा से भी बड़ा हो चुका है। इस देश में सुख के मेघ भी बरसें तो वह न मिटेगा।" अब वह अपने इस फूत्कारते हुए दैन्य को देखती है और तब अपनी इस सोलह साल की उम्र को। एक गम्भीर उच्छ्‌वास के साथ वह कहती है— "अभी तो यह सारा जीवन पड़ा है इसका क्या होगा ?" वह सोचती है उसका पहला पति मर गया, वह भी अकेले। जहाँ उसका कोई भी अपना सगा नहीं था। मरने के समय उसके मुँह में किसी ने दो बूँद जल भी नहीं डाला।" प्रकृति किसी को रोने के लिए ही, लोकनिन्दा में मर मिटने के लिए ही बनाती है। इस तरह मर कर मेरे लिए प्राण देकर अब वह मेरे लिए तो गंगा और कैलाश से भी अधिक पवित्र हो चुका है। पवित्र और निर्दोष की मुझे जब कामना होती है उसका कोई कल्पित रूप मेरी आँखों में आ जाता है, मेरे मन में बस जाता है।" उसे शंका है—यह सब जानकर अब कौन राजकुमार उसे अक्षत यौवना समझेगा और उसका वरण करेगा। उसके मन का यह परिताप इतना सघन है कि "शब्दों से कहीं अधिक आग तो तुम्हारी आँखें फेंक रही हैं", और वह आत्म-हत्या का निश्चय कर लेती है।

विक्रममित्र की सतेज आँखें वासंती के मनोभावों के इस उत्थान पतन को गंभीरता से देख रही हैं। वे पाती हैं कि वासंती की मुस्कान भी आँसुओं से बोझिल है, भींगी-भींगी-सी है, उसकी आँखों के स्वाभाविक गुलाबी डोरे आत्म-हत्या के निश्चय की कलुषित छाया से छोर में काले-काले से पड़ गये हैं। वे चौकसी का आदेश देते हैं, और एक दिन यह भी स्पष्ट कर देते हैं "कैसी कलंकिनी रे !...तेरे बारे में कलंक की कल्पना भी अधर्म है और जिस किसी को यह संदेह होगा, उसकी जीभ में काट लूँगा।" वासंती गद्गद् हो जाती है और भावावेश में काँपती हुई लड़खड़ाती भाषा में कहती है—"आचार्य, मैं अब जीवित रहूँगी।"

इसी बीच वासंती के जीवन में "अक्षय कीर्ति, सिद्धि और प्रेम के उपासक" देवतुल्य कालिदास आ जाते हैं। वासंती का मयूर इस प्रथम-संभाषण का माध्यम है। कवि की आँखें प्रथम दर्शन में ही भाँप जाती हैं—"अभी कदाचित् आप रोती रही हैं। आँखों के नीचे दो रेखाएँ...।" विक्रममित्र कालिदास को यदा-कदा वासंती का मन बहलाने को भेज दिया करते हैं और जब कभी ऐसा अवसर आता है, उनका मन वीणा के तारों पर चढ़कर कहीं दूर चला जाया करता है। पुनः जब कालिदास देवभूति के कारण काशिराज पर आक्रमण करने को भेजे जाते हैं, वासंती किंकर्त्तव्यविमूढ़ बन जाती है। उसे यह जानकर संतोष होता है कि कालिदास विजयी बनकर लौटे और रक्तपात भी नहीं हुआ। वासंती कालिदास के सामने अनुगृहीत अनुभव करती है और उनके स्वागत के लिए तैयार हो जाती है। वह दौड़कर अपनी वीणा पर की रखी हुई फूल-माला ले आती है और कवि के गले में डाल देती है। उसके हाथ काँप रहे हैं—प्रेम से, कृतज्ञता से—"यह उपकार मैं जीवन भर नहीं भूलूँगी कवि।" विक्रममित्र वरमाला का प्रणय इस माला को धारण करने का संकेत देकर हर्षोत्फुल्ल हो उठते हैं। उन्हें मालूम है वासंती अपना हृदय दे चुकी है और काशिराज अपना राज्य भी।

III वासंती का प्रेम मलयवती के प्रेम की तरह मुखर और वाचाल नहीं है। वह अपने इस प्रणय-रत्न को हृदय के अंतरतम प्रदेश में कंजूस के धन की तरह छिपा कर रखती है। एक भी प्रसंग ऐसा नहीं जहाँ उसने अपनी वाणी से यह अभिव्यक्त किया हो कि कालिदास के प्रति उसके हृदय में कैसे भाव हैं।

वासंती को पति मिला, एक महाकवि, एक अत्यन्त विश्वासी मित्र और एक त्यागी महापुरुष। उसने सरस्वती के चरणों पर रति को न्योछावर कर दिया, मित्रता की बलिवेदी पर राज्य को अर्पित कर दिया और मानवता के चरणों पर वैयक्तिकता की बलि चढ़ा दी। वासंती के यौवन को दाम्पत्य तो मिला, पर उसके मातृत्व को वात्सल्य कभी नहीं मिला। कालिदास का निश्चय था—"वासंती से मैं काव्य उत्पन्न करूँगा।" कौन कह सकता है कि कालिदास की वासंती अंतः प्रेरणा के रूप में कालिदास की कौन-कौन-सी रचनाओं में कहाँ-कहाँ नहीं डोलती रही है। इस विवाह के पूर्व ही मेघदूत और कुमारसंभव की रचना हो चुकी थी। शायद वासंती, कालिदास की शकुन्तला की अंतश्चेतना बनकर ढल गयी हो।

———

मलयवती

मलवती मलयपुर के राजा की एक मात्र सन्तान है जो वैदिक विद्या सीखने के लिए आचार्य विक्रममित्र के संरक्षण में विदिशा भेजी गयी है। जन्म से ही यह अतिशय सौभाग्यशालिनी है। पाण्ड्यपुरी से यहाँ तक पहुँचाने के लिए पूरी एक सेना साथ आयी थी। पाण्ड्यसीमा के अंत में कुमार स्वाति शातकर्णि ने रथ-गज-सैन्य लेकर उसका स्वागत किया था। कुमार कार्तिकेश्वर के ऐसे धनुर्धर के साथ जिस रथ में चढ़कर वह आयी थी उसकी "ध्वजा और छत्र सुवर्ण और रत्नों की चमक से दहक रहे थे। कुमार स्वाति स्वयं उस रथ के सारथी बने।" यहाँ भी वह माता सौम्यदर्शना की आँखों की पुतली, आचार्य विक्रममित्र की लाडली और कुमार विषमशील की प्रणयपात्री ही रही। माता सौम्यदर्शना तो उसे अपनी भावी पुत्रवधू के रूप में ही देखती थीं, आचार्य विक्रममित्र ऐसे कठोर राजनीतिज्ञ तक एक बार वह जो भी माँगे, उसे देने को "वचनबद्ध हो चुके हैं", और कुमार विषमशील तो "घूम-घूम कर मलय कुमारी को आँखों से पी जाना चाहते थे।" इसीलिए उसने पुष्कर-प्रसंग को लेकर यह गर्वोक्ति की थी—"दैव का विधान तो मेरे वश का नहीं, किन्तु मनुष्य का विधान तो मैं एकबार बदल दूँगी।"

मलयवती सोलह साल की रूपसी है और सौन्दर्य की अतुल सम्पत्ति लेकर आयी है। रह-रह कर उसका मन मोर की तरह इस कल्पना से ही झूम उठता है कि अवंती के अंतःपुर में उसके नूपुर रुनक झुनक झुन, रुनक झुनक झुन बोलते रहेंगे और उसके पैर का लाक्षारस उसके प्रांगण को रँगता रहेगा। एक बार वासंती ने जब परिहास में यह कह दिया कि वह कुमार विषमशील को वरण करना चाहती है तो मलयवती थर-थर काँपने लगती है, "उसकी आँखें बरस पड़ना चाहती हैं, ललाट और नाक पर पसीना आ जाता है" और उसे

ऐसा लगता है कि विषमशील अब उसके न रह सकेंगे—"तुमने कुछ ऐसा कहा कि जैसे सचमुच उनके ओठ पर तुम्हारी नाक हो।"

वह वासंती को भी एक सखि के रूप में बहुत प्यार करती है। संपूर्ण राजमहल में ये ही दो समवयस्का युवतियाँ हैं जो आपस में मन की ग्रंथियाँ खोल लेती हैं। वह इतनी भावुक है कि वासंती की दुःख भरी कथा से आर्द्र हो जाती है और आचार्य के पास संवाद पहुँचा देती है—"वासंती सखी देर से रो रही हैं……मुझे धोखा देने के लिए कभी हँस भी पड़ती हैं……कदाचित् वे आत्महत्या करना चाहती हैं……नदी में डूब कर या मिल जाय तो फिर विष खाकर।" विक्रममित्र जब वासंती को यह बताते हैं कि वे उसे 'कलंकिनी' नहीं मानते तो मलयवती को कम प्रसन्नता नहीं होती। वह आवेश में यहाँ तक कह देती है कि "बोलो, किससे वरण करोगी?"

मलयवती में परिहास करने की सूझ-बूझ भी है। वासंती से परिहास में ही उसने कह दिया था—"तुम्हारे पिता काशिराज के प्रासाद में तुम्हारे साथ महीनों रहा और फिर तुम्हें साथ लेकर कई दिन रास्ते में भी……इस बीच अवश्य ही उसने तुम्हारा सर्वस्व लेकर अपना सर्वस्व तुम्हें दे ही दिया होगा।" दूसरा परिहास उसने कालिदास के सामने ही वासंती से तब किया जब यह निश्चित हो चुका था कि वासंती और कालिदास बहुत शीघ्र प्रणय-सूत्र में आबद्ध होंगे—"क्यों, क्यों, इधर देखो……तुम्हारी शक्ति तो अब कवि से भी बढ़ गयी……जो यहाँ सब पर शासन करेगा, उसके कान तुम्हारी चुटकी में रहेंगे।"

———

महत्वपूर्ण व्याख्या

(१) "उनका न्याय.........मेरी मृत्यु।" (पृ० २०, पं० १८)

इस पंक्ति में सिंह-पराक्रम पुष्कर आचार्य विक्रममित्र की न्यायप्रियता और कठोर अनुशासन की चर्चा करता हुआ कहता है कि एक नहीं, अनेक ऐसे उदाहरण हैं जिनसे यह स्पष्ट होता है कि हिमालय अचल-से-चल हो जाय पर विक्रममित्र के शासन में अन्याय नहीं हो सकता, अनुशासन व्यंग करनेवालों को मुक्ति नहीं मिल सकती। इसी अनुशासन-रक्षा के लिए उन्होंने अपने वंश के अंतिम दीपक देवभूति को निर्वासन दे दिया, इसी न्यायप्रियता के लिए वे बालब्रह्मचारी रहे। इस तरह उन्होंने अपनी आँखें ही फोड़ लीं, अपने बायें हाथ से अपना ही दाहिना हाथ काट लिया, पर अन्याय को वैधानिक सिद्ध करने का तर्क नहीं दिया। दुष्कर कहता है कि मैं जानता हूँ, मैंने अनुशासान भंग कर जो अपराध किया है, उसका दंड है मृत्यु। इससे स्वयं यमराज भी मेरी रक्षा नहीं कर सकते। इस कथन से विक्रममित्र के शासन के प्रति एक अपराधी के मन में भी जो अवस्था थी, जो विश्वास था—वे प्रकट होते हैं।

(२) "इस प्रासाद में.........को कहते हैं। (पृ० २३, पं० नीचे से ५)

इस पंक्ति में मलय कुमारी मलयवती आचार्य विक्रममित्र के शासन के दूसरे गुण पर प्रकाश डालती हुई कहती है कि इस विदिशा के राज-प्रासाद के चारों ओर वैदिक-विधान का वायुमंडल फैला हुआ है। वैदिक-विधान के अंतर्गत शरणागत की रक्षा प्राण देकर भी करने के मंत्र हैं। मुझे भी इस मंत्र से दीक्षित किया गया है। कोई भी जो मेरी शरण में आवेगा, मैं उसकी रक्षा प्राण देकर भी करूँगी। स्वयं सेनापति विक्रममित्र इस शरणागत-रक्षा को अपना सबसे बड़ा धर्म समझते हैं। मैं समझती हूँ वे मेरी प्रार्थना अवश्य स्वीकार करेंगे। एक बार जो कुछ भी माँग लेने और उसे पूरा करने को वे

वचनवद्ध हो चुके हैं। एक ओर तो उनकी यह वचनबद्धता तथा दूसरी ओर शरणागत वत्सलता—ये दोनों तत्त्व मिलकर पुष्कर की जीवन-रक्षा करेंगे।

(३) "तुम वीर पुरुष ·····ले सकता।" (पृ० २८-२९)

इस पंक्ति में मलय कुमारी सिंह-पराक्रम पुष्कर की भयातुरता को झकझोरती हुई फटकारती है और कहती है कि वीर पुरुष तो मृत्यु को वरण ही करता है और तुम वीर होकर भी भय से थर-थर काँप रहे हो। भयग्रस्त मनुष्य का तो सारा जीवन श्मशान की तरह वीरान होता है—जीने का स्वाद तो हथेली पर प्राण लेकर चलने में है। यमराज के विकराल मुँह में घुसकर उसके दाँतों को गिनते हुए, उसकी जीभ को रौंदते हुए, उसके कंठ को गुदगुदाते हुए भी जो व्यक्ति डरता नहीं, वस्तुत: जीवन का स्वाद तो उसे ही मिलता है। उसे क्या मिलेगा जो मृत्यु का नाम सुनते ही धराशायी हो जाता है। मिलता सदैव उसे ही है जो जीवन का सुख,खतरा, जोखिम और साहस की अपेक्षा करता है, भय, अधीरता और शीघ्रता की नहीं।

(४) "मैं कह रही थी·······तरह नहीं रह लेगा।" (पृ० ३४, पं० ३)

ये पंक्तियाँ 'गरुड़ध्वज' के प्रथम अंक से उद्धृत हैं और इनमें वासंती तत्कालीन धार्मिक वातावरण का चित्र प्रस्तुत करते हुए मानव-धर्म की स्थापना की बात करती है। मलयवती से अपने जीवन की कहानी कहती हुई वह बताती है कि उसके पिता बौद्ध धर्मावलंबी हैं, इसलिए धार्मिक विद्वेष के चलते कोई भी हिन्दू राजकुमार उससे विवाह करने को तैयार नहीं था। तब मेरे पिता ने अपने गुरुभाई के पुत्र, शाकल के पचासवर्षीय राजकुमार से मेरा विवाह कर देने का निश्चय किया। पर राजनैतिक और जातिगत विद्वेष के चलते सेनापति विक्रममित्र इसे सहन नहीं कर सकते थे कि कोई आर्य-कुमारी यवन दस्यु से व्याही जाय। अतएव, जब मेरे पिता मुझे शाकल के लिए विदा कर चुके थे, सेनापति विक्रममित्र ने बीच जंगल में आक्रमण कर मेरा 'उद्धार' किया और मेरा पति तलवार के घाट उतार दिया गया। अब यह सारा जीवन उसे आँसू बहा-बहा कर तिल-तिल काट देना है। इसी पृष्ठभूमि में वासंती सहज मानव-धर्म की चर्चा

करती है और यह इच्छा प्रकट करती है कि काश ! धर्म के ये आपसी झगड़े, ये सांप्रदायिक वैमनस्य समाप्त हो जाते और मनुष्य एक दूसरे के प्रति मनुष्योचित व्यवहार कर पाता। सामने देखो—यह हरिण है जो घास चर रही है, वह गोवत्स है जो रँभा रहा है और वह मयूर है जो बिलों में साँप-बिच्छू खोज रहा है। इनमें से कोई भी एक-दूसरे पर अपने संस्कार और धर्म लादने का प्रयत्न नहीं कर रहे, मुक्त विहार कर रहे हैं। क्या मानव, इन साधारण पशुओं की भी तरह नहीं रह पायेगा। इधर देखो तो कितनी भयंकर हलचल है—हम अपने विश्वास को, धर्म को अपने तक ही सीमित नहीं रखना चाहते, शास्त्रों के बल दूसरों पर लादना चाहते हैं। मानवों का कोई भी सम्प्रदाय ऐसा नहीं जो आँसू की बूँद से जन्म लेकर रक्त के पारावार तक न पहुँच गया हो। हमसे तो अच्छे ये पशु हैं।

(५) "हो सकता है......आगे खड़ा हो।" (पृ० ३४, पं० १०)

इन पंक्तियों में मलयवती, काशी की राजकुमारी वासंती की उस जिज्ञासा का उत्तर देती है, जिसमें उसने सहज मानव-धर्म की बात की थी। वासंती ने धार्मिक दंभ को तथा उसे बलात् दूसरों पर लादने के उपक्रम को पशुता से भी हीन कोटि का बताया था। मलयवती परितोष देती हुई कहती है कि मानव अपने जीवन के साथ सतत परीक्षण में संलग्न है, वह उसी सामान्य और सहज पशु-धर्म से ऊर्ध्वमुखी बनने के उपक्रम में इस विद्वेष और धर्मान्धाता की रक्त-सरिता के कगारे पहुँच गया है। अब वह सतत परीक्षण के क्रम में इतनी दूर आ चुका है कि फिर लौट नहीं सकता। इससे अच्छा है कि वह आगे बढ़े। यह ठीक है कि इसमें भविष्य अनिश्चित है, पर पशुओं के भविष्य की तरह वह जड़ तो नहीं माना जायगा। मानव सतत विकास करता हुआ ही पशु से भिन्न हो गया है, कौन कह सकता है कि वह एक दिन देवता नहीं बन जायगा। तुम्हें रक्त का महासागर लहराता हुआ दीखता है, संभव है कि ठीक उसके पार मुक्त हँसी बिखेरता हुआ शुभ्र और परमोज्ज्वल कैलाश ही अवस्थित हो। जहाँ अखंड कल्याण के जनक शिव का वास है।

(६) "बौद्ध भी ठीक···दायें-बायें करेंगे।" (पृ० ३४, पं० नीचे से ६)

इन पंक्तियों में वासंती धर्म के विश्वास की अपूर्णता, और युगानुकूलता के अभाव पर दृष्टिपात करती हुई बौद्धों और वैष्णव के पारस्परिक संघर्ष की चर्चा करती है। कोई भी धर्म पूर्ण नहीं होता, हो ही नहीं सकता। धर्म, मानव के सुचारु जीवनयापन के लिए है, न कि मानव, धर्म के अन्धविश्वास का सेवक। मानव स्वयं अपूर्ण है, गतियुक्त और परिवर्त्तनशील है—इसलिए वांछनीय यह है कि उसका धर्म भी उसके साथ बदले, गतियुक्त रहे। इन सात-आठ सौ वर्षों में आर्यावर्त्त का जीवन बहुत अधिक बदल गया है, पर बौद्ध अभी तक भगवान् बुद्ध के काल की ही धारणाओं को लेकर चल रहे हैं। उस युग में हमारे देश पर आक्रमण नहीं हुए थे, यहाँ पशु-नर-हिंसा का बोलबाला था—इसलिए बुद्ध धर्म का प्रादुर्भाव अनिवार्य हुआ। पर आज जब परिस्थितियाँ बदल गयी हैं, हमारे देश पर आक्रमण पर आक्रमण हो रहे हैं—अभी तक हमारे बौद्ध उन्हीं पिटी-पिटाई लकीरों पर चलते चले जा रहे हैं। वे एक ऐसी अति पर पहुँच गये हैं जिसके आगे राह नहीं। आज की अनिवार्यता है कि हम वैदिक-विधान के अनुकूल कार्य करें, राष्ट्रीय भावना को प्रश्रय दें और आक्रमणकारियों से लोहा लें। पर इसका अर्थ यह नहीं कि देश के सभी कीट-पतंगों को तलवार के बल पर वैष्णव बनावें, उन पर अपने विश्वासों को लादें और भीषण रक्तपात करें। यह दूसरी अति होगी, जिसके आगे फिर राह नहीं मिलेगी। आज जिस प्रकार बौद्धों को तितर-बितर कर भीषण रक्तपात किया जा रहा है, एक दिन फिर ऐसा आयगा जब वैष्णवों को तितर-बितर कर कोई दूसरा धार्मिक विश्वास यहाँ के निवासियों पर लादा जायगा। यह तो ठीक नहीं।

(७) "दुःखी प्राणी सत्य का स्वरूप देख लेता है सखी।" (पृ० ३९, पं० ३)

यह पंक्ति 'गरुड़ध्वज' के प्रथम अंक में वासंती द्वारा मलयवती से कही गयी है। वासंती ने भविष्य का संकेत देते हुए यह बताया है कि वह दिन दूर नहीं जब कुमार विषमशील मगध, कलिंग, अंतर्वेद और उत्तरखंड का चक्रवर्ती सम्राट् होंगे और तुम उनकी प्रधान राजमहिषी। तुम्हारे चलते पारसय तक उनकी विजय-

वैजयन्ती फहरेगी, प्रतिष्ठान के शातकर्णि तो उनके विश्वासी मित्र रहेंगे ही। मलयवती कुछ अविश्वास के स्वर में कहती है कि सखी, तुम तो मेरे कानों में मधु की वर्षा कर रही हो। इसी पर वासंती की यह उक्ति है। मनुष्य के कपाल पर की चेतना की तीसरी आँख तब तक नहीं खुलती जब तक कि वह हलाहल का पान कर नीलकंठ न बन गया हो। दुःख हृदय को एक ऐसी लचक देता है कि व्यक्ति प्रत्येक परिस्थिति में अपने को डालकर सोच सके और इस प्रकार भविष्य का संकेत पढ़ सके। दुख की आँच भोंथी मेधा को भी वह तीक्ष्णता प्रदान करती है कि वह विधाता की अस्पष्ट लिपि का अर्थ समझ सके। मैं बौद्ध-धर्म के विनाश और वैदिक-विधान के पुनरुत्थान में देश की प्रोज्ज्वल आशा को फलवती होते पा रही हूँ। यह देश पुनः एक ऐसी बुलंदी पर पहुँचेगा जहाँ अभी तक विरले ही पहुँचे थे और तब 'पस्ती' तो है ही, क्योंकि प्रत्येक बुलंदी पस्ती की पृष्ठभूमि तैयार करती है।

(८) "प्रकृति किसी-किसी......उड़ जाऊँगी।" (पृ० ४२, पं० १०)

ये पंक्तियाँ 'गरुड़ध्वज' के प्रथम अंक से ली गयी हैं और इसमें वासंती प्रकारंतर से अपनी उस योजना पर प्रकाश डालती है जो कि अपने प्राणांत के लिए वह स्थिर कर चुकी है। वह कहती है—गजब मनमौजी है यह प्रकृति। फूलों को उसने ऐसा बना दिया है कि जब तक रहें वे मुस्कुराते ही रहें, पहाड़ों को जीवन भर सोने के लिए विधान है और नदियों का सौभाग्य है कि जब तक रहें, गीत ही गाती रहें। पर देखो न, प्रकृति के इसी राज्य में बादलों के लिए और ओस-कणों के लिए दूसरा ही विधान है कि जब तक रहें वे रोते ही रहें। ठीक उसी तरह एक तुम्हारा सौभाग्य, और दूसरी ओर मेरा दुर्भाग्य! सीता जगज्जननी थी, आग में तपायी जाकर भी सोने की तरह खरी निकली थी, फिर भी, विधान था कि उसे जीवन भर रोना पड़ेगा तो रोयी ही। मैं भी सीता की ही तरह अभागिन हूँ। पर एक स्पष्ट अन्तर है। जानकी को अपने पति की मर्यादा का बड़ा ख्याल था, मेरा पति मेरी सारी मर्यादा अपने साथ ही लेता चला गया; वे गर्भवती भी थीं, मैंने तो अपने पति का मुख भी नहीं देखा तो पुत्र की संभावना

कैसी। इसीलिए वे विवश थीं, पर मैं तो मुक्त विहग की तरह परम स्वतंत्र हूँ। वे आत्महत्या नहीं कर सकती थीं पर मैं तो आज ही अपने को धरती की गोद में समर्पित कर सकती हूँ। मेरे न तो आगे नाथ है और न पीछे पगहा।

(९) "मेरे लिए तो वह······बस जाता है।' (पृ० ४४, पं० नीचे की)

इन पंक्तियों में वासंती अपने प्रथम पति, शाकल के यवन राजकुमार को निर्दोष, निश्छल और निर्कलुष प्रेम की स्मृति करती है। उस राजकुमार ने वासंती को कभी देखा तक नहीं, बीस दिनों तक उसके राजमहल में और चार दिनों तक जंगली बियावान मार्ग में रहकर और आगे-आगे चलकर भी उसने कोई वासनात्मक संकेत तक नहीं किया। कैसा था वह शलभ जो वासंती की लौ के आकर्षण से खिंचा, चक्कर मारता रहा और एक दिन उसी लौ के चलते समाप्त भी हो गया। जीवन में, वह वासंती का सहवास नहीं पा सका, पर अब मर कर वह उसकी स्मृति का अभिन्न अंग बन गया है। वासंती अपने को उस सती के रूप में पा रही है जिसके लिए उसका पति गंगा और कैलाश-सा पवित्र होता है। यवन राजकुमार ने अपने आचरण से अपनी पवित्रता की ऐसी धाक उसके हृदय पर जमा दी है कि उसके अधिक निर्कलुष स्नेह की वह कोई भिन्न कल्पना तक नहीं कर सकती। वासंती अपनी कल्पना की तूलिका से अपने मानस-पटल पर उस राजकुमार के चित्र बनाती है और चाहती है कि वह बोल उठे, हास-परिहास करे।

(१०) "देख चुकी हूं······पूरी हो जाती है।" (पृ ४५, पं० नीचे से ९)

इन पंक्तियों में राजकुमारी वासंती, मलय कुमारी के उस प्रश्न का उत्तर देती है जिसमें कहा गया है कि अभी उसे बहुत दूर जाना है। अभी तो उसकी उम्र सोलह साल की है। मलयवती भगवान् के मंदिर में जाकर सहस्रदल कमल अर्पित करना चाहती है। वासंती क्या करे, किसे अर्पित करे, क्या अर्पित करे और सर्वोपरि क्यों अर्पित करे। उसके मन में कोई वासना और कामना निःशेष नहीं। उसे न राज्य की भूख है, न पति की और न पुत्र की। बात रही जीवन-यात्रा को समाप्त कर लेने की तो वह देख चुकी है—"तेरे घर के द्वार बहुत हैं"—जिस किसी भी द्वार से उसकी इच्छा होगी, भगवान् के घर पहुँच जायगी। वह जानती है—

जीवन-पथ पर अनगिनत ऐसे यात्री हैं जो शिविका पर, हाथी-घोड़े पर, सेवक-रक्षक के साथ ससैन्य चलते नजर आते हैं। उनके साथ आमोद-प्रमोद के सारे साधन भी विद्यमान रहते हैं। पर, उन्हीं के अगल-बगल साधनहीनों की टोली भी लथड़ाती-पथड़ाती चलती रहती है। देर से ही सही, नंगे पाँव ही सही, कष्टों में झुलसती हुई ही सही, वह टोली भी एक-न-एक दिन अपनी यात्रा समाप्त कर ही लेती है। उन निरीह और विरागी दण्ड-कमंडल-धारियों की भी टोली गाते-बजाते चलती जाती है और जीवन-पथ को खेप लेती है। वासंती कहती है कि मुझे भी अपनी जीवन-यात्रा किसी-न-किसी तरह समाप्त कर लेनी है। आमोद-प्रमोद के साथ नहीं, भूख-प्यास के ही साथ सही। संतुष्टि के साथ नहीं, अनंत पिपासा के ही साथ सही।

(११) "बिना मयूरी के······मयूरी बनाकर।" (पृ० ४७ पं० ७-८)

इस पंक्ति में वासंती अपने बालसखा मोर को पुचकारती हुई अपने हृदय का दर्द प्रकट कर रही है। यह मोर काशी से उसके साथ आया है और उसके कपोलों से खेल रहा है। वह रात में भी वासंती की गोद में छिपकर सोता है। एक दिन किसी वनैले मार्जार ने उसकी मयूरी की गर्दन मरोड़ दी, और वह मयूर मर्मवेधी क्रन्दन करता रहा। वासंती ने उसका प्रबोधन किया। सामान्य धारणा यह है कि मयूर बिना अपनी मयूरी के जीवित नहीं रहता, पर यह विधुर बनकर जीवित रहा। दूसरी बात यह भी है कि पत्नी की कोई भी गति पति के बिना संभव नहीं। वासंती जी रही है विधवा बनकर। विधुर और विधवा का यह मिलन! जिस तरह मयूर, मयूरी की हत्या पर मर्मभेदी क्रन्दन करता रहा था, उसी तरह वासंती भी अपने पति की हत्या पर चीख पड़ी थी। पर मयूर को तो वासंती की गोद मिल गयी, खेलने को वासंती के कपोल भी मिल गये; पर वासंती को? क्या मिला? किस आशा पर वह जीवित रहे?

(१२) "आसक्ति जिस किसी की हो प्राण का मोह नहीं करती।"

(पृ० ४८, पं० १२)

इस पंक्ति में वासंती मयूर के प्रेम के माध्यम से एक बहुत बड़े सत्य की ओर संकेत कर रही है। मयूर उसका बालसखा है, उसने अपनी मयूरी के अभाव तक

को भूलने का प्रयत्न किया है वासंती के सम्पर्क में। इसीलिए शस्त्रों की मार के बीच भी वह वासंती के ही पास रहा और आचार्य को अपनी चोंच के प्रहार से वासंती के निकट आने से रोकने का प्रयास करता रहा। आसक्ति का प्रभाव ही ऐसा होता है। हम इसके प्रभाव में किसी वस्तु का मोह नहीं करते। आसक्ति का आकर्षण सुध-बुध भुला देता है—इस तरह कि व्यक्ति मजनूँ बन जाता है। वह आसक्ति के आलंबन में अपनी सम्पूर्ण सत्ता को तिरोहित कर देता है, और उसी की साँस से प्राणवायु ग्रहण करता है। चकोर की आसक्ति चन्द्र के प्रति उल्लेखनीय है। किस प्रकार इसके चलते वह चिनगारी तक को निगलने लग जाता है प्राणों का मोह छोड़कर। यह मयूर भी तो उसी प्रकार का एक जीव है। अपने प्राण-रक्षक की प्राणरक्षा, अपने प्राण देकर तो वह कर ही लेगा—यही विश्वास उसे इतना बल प्रदान करता है, यही आसक्ति उसे सर्वजयी बना देती है।

(१३) "देवत्व का अहंकार······देवता होता भी नहीं। (पृ०४९-५०)

ये पंक्तियाँ 'गरुड़ध्वज' के प्रथम अंक से ली गयी हैं और इनमें कवि कालिदास देवत्व के गुणावगुण की चर्चा करते हुए कहते हैं कि देवता बनना बुरी बात नहीं। हम अपने आदर्श और आचरण को ऐसा बनायें कि देव बन जायें। पर देवत्व का दंभ त्रिशंकु को परमुखापेक्षी, इंद्र को अभिशापग्रस्त और रावण को मृत्यु का निमंत्रण दिया करता है। यह दंभ उसे ही शोभा देता है जो मन-वचन-कर्म से निःस्पृह बन गया हो, जो आसक्ति के सारे बन्धनों को काटकर, मायामोह के समस्त जंजाल को तोड़-फोड़ चुका हो। और फिर देवता, है क्या? हमारे बीच के हाड-मांस के पुतले ही तो अपने आचरण से देवता बनते हैं—अक्षय कीर्ति और सिद्धि के अवलम्ब बनते हैं! कालिदास वासंती को बता रहे हैं—एक युग वह भी था कि हम देवलोक की सुख-शान्ति-समृद्धि के लिए लालायित होकर उसकी कामना करते थे। अब युग पलट गया है—आचार्य विक्रममित्र के सुशासन में भू-लोक ही ऐसा बन गया है कि देवता इसके लिए तरसें, यहाँ जन्मग्रहण करने को लालायित रहें। देवी, मैं अपने काव्य में इसे ही चरितार्थ करूँगा। देवता मनुष्य बनकर मानव की तरह आचरण करेगा। भला कौन ऐसा देवता है जो विक्रममित्र के चरित्र और आचरण से होड़ ले सके।

(१४) "यह तो नारी······छू लेता है।" (पृ० ५३, पं० नीचे से ५)

यह पंक्ति कवि कालिदास द्वारा सेनापति अग्निमित्र के सम्बन्ध में कही गई है। सेनापति विक्रममित्र के परपितामह सेनापति अग्निमित्र की दो रानियाँ थीं। पहली पत्नी धारिणी देवी के पुत्र कुमार वसुमित्र हुए, जिन्होंने सोलह वर्ष की अवस्था में ही सिन्धु-तट पर महापराक्रमी यवनों को पराजित कर सिन्धु के उस पार तक खदेड़ा था। दूसरी रानी इरावती के पुत्र वसु ज्येष्ठ थे जो इतने डरपोक थे कि बनैले जीवों के भय से कभी वन के रास्ते रक्षकों के साथ भी नहीं जाते थे किन्तु सेनापति अग्निमित्र देवी इरावती के मोह में राज्य पर पहले ही उन्हीं को बैठा गये। वासंती को आश्चर्य होता है कि किस प्रकार ऐसे कायर को वसुमित्र की तुलना में राज्याधिकार प्रदान किया गया। इसी पर कालिदास ने कहा—नारी का मोह ऐसा होता ही है। इस मोह-जाल में फँसकर बड़े-से-बड़े देवता भी मूर्खों की तरह आचरण करने लगते हैं। नारी, पुरुष की सबसे बड़ी दुर्बलता है, और वह जितनी ही सबल होती है, पुरुष उतनी ही दुर्बलता का प्रदर्शन करता है। मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र को इसी मोह ने कनक मृग मारने के लिए प्रेरित किया और फिर सीता-हरण के बाद इसी मोह ने पुरुषोत्तम तक को लता और वृक्षों के सामने अनुनय के स्वर में रुलाया। वह विवेक को ही चर जाता है—यही उसकी सार्थकता भी है।

(१५) "जो कहीं किसी से······हार जाता है।" (पृ० ५७, पं० ११)

यह पंक्ति सेनापति विक्रममित्र द्वारा तब कही गयी है जब मलयवती पुष्कर को क्षमा कर देने की विनय सेनापति से करती है। सेनापति बड़े कठोर अनुशासन प्रिय व्यक्ति हैं, न्यायी हैं। न्याय के लिए वे अपने प्राण दे सकते हैं, पर अन्याय नहीं कर सकते। वे मलयवती से कहते भी हैं कि मेरे प्राण माँग लो, दे दूँगा; क्योंकि वह मेरा है पर स्वर्गीय पुष्यमित्र द्वारा स्थापित अनुशासन को भंग नहीं होने दूँगा। मलयकुमारी पुष्कर को क्षमा दिलाने के लिए कृतसंकल्प है। इसी पर बालब्रह्मचारी सेनापति विक्रममित्र की यह उक्ति है। उन्होंने मलयकुमारी, वासंती और कालिदास को अपनी संतान के रूप में पाला-पोसा है,

शिक्षा-दीक्षा दी है—इन्हीं से उनकी सन्तान की कामना तुष्ट हुई है। एक ओर संतान का मोह है—दूसरी ओर अनुशासन। चट्टान की तरह दृढ़ रहनेवाले विक्रममित्र दोनों को तौल रहे हैं। बुद्धि अनुशासन का पक्ष ले रही है, भावना संतान का पक्ष लेकर लड़ रही है। बूढ़ा विक्रममित्र इन दोनों के बीच में झूलता है, झूलता ही रह जाता है। अंततः वह बीच की राह निकालता है—उसे प्राणदंड या देश निष्कासन नहीं दिया जा सकता, किन्तु असावधानी का साधारण दंड तो उसे होगा ही, जो केवल इस अगले युद्ध में उसकी वीरता से ही छूट सकेगा।

(१६) "शास्त्र से किसी······छा जाता है।" (पृ० ६७-६८)

वीर मान्धाता से सेनापति विक्रममित्र कह रहे हैं कि साहित्य और कला, संस्कृति और सभ्यता, स्वतंत्र राष्ट्र में ही पनपते और विकास पाते हैं। परतंत्र राष्ट्र की कोई सभ्यता नहीं होती और स्वतंत्रता, सतत सावधानी की अपेक्षा करती है। तलवारों की झंकार से ही नूपुर की झंकार और सरस्वती की वीणा बल पाती है। राष्ट्र की रक्षा और स्वतंत्रता सर्वोपरि है—इसीलिए इतिहासों में वीरों की आराधना ही प्रधान है, और वस्तु गौण। वीर राष्ट्र-शरीर के शिल्पी होते हैं, कलाकार राष्ट्र की आत्मा के शिल्पी। शरीर की स्थिति के बिना आत्मा प्रेत की तरह डोलती रहती है, यह शरीर है जो आत्मा को व्यक्तिवाचक संज्ञा प्रदान करता है। इसलिए वह परतंत्र राष्ट्र व्यर्थ और निष्प्राण है जो वीर न पैदा कर, कवि पैदा करता है। कवि को भी अपने काव्य के आलंबन के लिए किसी धीरोदात्त नायक–किसी महावीर की आवश्यकता पड़ती है। मनुष्य जाति ने इसीलिए सर्वप्रथम शस्त्र का आविष्कार किया और हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि, उसकी आवश्यकता ही उसके सभी आविष्कारों की जननी रही है। शस्त्ररक्षित राष्ट्र में जब समृद्धि सिमट-सिमट कर आने लगती है, सुरक्षा निश्चित हो जाती है, तभी शास्त्र का निर्माण होता है। इसलिए जो परतंत्र राष्ट्र शस्त्र को ताख पर धर कर शास्त्र की चर्चा करता है वह पंगु बना रह जाता है, उपहास का पात्र होता है। यह एक भयंकर बिडंबना है। इसलिए विक्रममित्र

मान्धाता से कहते हैं कि यदि तुम व्याकरण नहीं समझते तो कोई बात नहीं, तुम्हारी जीभ वहाँ लड़खड़ा जाती है तो उपहास की कोई बात नहीं। उपहासास्पद तो तुम तब बनते जब तुम्हारे हाथ तलवार की मूठ पर जमते नहीं, उठकर दुश्मनों की गरदन पर गाज बन कर न बरस पड़ते। तुम स्वयं देखो, कालिदास की कल्पना अपने वीर नायक के लिए मृत्तिका तुम्हारे वीरोचित गुणों से ही संग्रह करती है इसीलिए तुम्हारे प्रति वह सम्मान भी प्रदर्शित करता है। विद्या, कोई भी उच्च और हीन कोटि की नहीं होती; विद्या विद्या है—उसके लिए सतत अभ्यास की आवश्यकता पड़ती है। यह कभी मत समझो कि लेखनी चलानेवाला महाकवि, किसी भी हालत में तलवार चलानेवाले महावीर से बड़ा है—और वह भी तब, जबकि देश का एक बहुत बड़ा भाग यवन आक्रमणकारियों के पैरों-तले कराह रहा हो; चीख रहा हो। स्वतंत्रता देवी के चरणों पर कमल नहीं, अड़हुल के फूल चढ़ते हैं, उसके चरण गंगा-जल से नहीं, लाल रक्त से सींचे जाते हैं, उसके गले में मोतियों की माला नहीं, मुण्डों का हार रहता है।

(१७) "शास्त्रहीन होना···काँप उठें।" (पृ० ६८, पं० १३)

इन पंक्तियों में सेनापति विक्रममित्र मान्धाता को शस्त्र की गरिमा बताते हुए कहते हैं कि पुरुष के लिए यह लज्जा की बात नहीं है कि वह 'साहित्य-संगीत-कला-विहीनः साक्षात् पशु पुच्छ-विषाण-हीनः" है, बल्कि वास्तविक लज्जा की बात तो उसके लिए यह है कि वह शस्त्र-परिचालन नहीं जानता। स्वतंत्र राष्ट्र सैनिक शिक्षा को ही प्राथमिक शिक्षा-मानता है, केवल परतंत्र राष्ट्र में ही शास्त्रों की स्नातकोत्तर-शिक्षा पर जोर दिया जाता है। और शस्त्र-साधन बड़ी कठोर शिक्षा है। इसमें शरीर की गठन, चरित्र की गठन, अनुशासन इत्यादि अनिवार्य हैं। पर शास्त्र-साधन के लिए इनमें से किसी की भी आवश्यकता नहीं पड़ती। इसीलिए कालिदास को पैदा करने के लिए मान्धाता की शारीरिक और चारित्रिक गठन की आवश्यकता पड़ती है। मान्धाता, तुम राष्ट्र की नींव हो, दीवार हो—शास्त्र-साधक कालिदास राष्ट्र का गुंबज है। बिना नींव और दीवार के गुंबज का निर्माण तो दूर उसकी कल्पना भी नहीं की जा

सकती। जितनी ही गहरी नींव होगी, जितनी ही मजबूत दीवार होगी, गुंबज उतना ही ऊँचा, उतना ही विशाल, उतना ही शानदार होगा। हमारे देश में आज रक्त से तर्पण करनेवाले मान्धता ऐसे वीर हैं, तभी नीर-क्षीर विवेकी राजहंस - वाहिनी सरस्वती के सपूत कालिदास और पतंजलि भी हैं। इसलिए लोकरंजन और लोक-कल्याण में रत रहनेवाले महावीर ही राष्ट्र की पहली आवश्यकता हैं, कवि और शास्त्रकार तो बाद में आते हैं। वह लेखनी धन्य है जो तलवार का गुणगान करती है। प्रत्येक महाकवि की तूलिका किसी-न-किसी तलवार का ही आश्रय लेती है। वाल्मीकि ने राम, व्यास ने कृष्ण और अर्जुन का आश्रय लिया, कालिदास की तूलिका भी तुम्हारी मूर्त्ति को ही शब्दों का परिधान पहरा रही है।

(१८) "इस सृष्टि का सत्य···मिल सकता है।" (पृ० ८१, पं० १४)

इन पंक्तियों में सेनापति विक्रममित्र राजकुमारी वासंती से सत्य की उपादेयता और तर्क की व्यर्थता की चर्चा कर रहे हैं। वे कहते हैं—सत्य परमशुद्ध होते हुए भी बड़ा लजीला होता है, तर्क जितना ही अशुद्ध होता है उतना ही तीक्ष्ण और उद्धत भी। इसीलिए तर्क से सत्य की उपलब्धि नहीं होती, कर्म से होती है—कहा भी है, "बुद्धि छोड़ करनी करो, तो पावौ कछु सार।" सार करनी से ही प्राप्त होता है, बुद्धि या तर्क से नहीं। तुम अपने पिछले सम्बन्धों को लेकर मुझसे तर्क कर रही हो—कि तुम्हारे शरीर का वरण भले ही कोई कर ले, किन्तु तम्हारे मन का, तुम्हारे विश्वास का वरण करनेवाला महापुरुष इस देश में नहीं। मैं तुमसे तर्क क्या करूँ—सत्य और धर्म, दोनों वस्तुतः कर्म करने से ही प्राप्त होते हैं और विकास पाते हैं। तुम पाओगी इस देश में सत्यव्रती और धर्मव्रती—दोनों में से किसी की कमी नहीं। तुम्हारे शरीर का वरण करनेवाला व्यक्ति ही अपने कर्म से यह सिद्ध कर देगा कि उसने तुम्हारे मन और विश्वास का भी वरण कर लिया है। मन और विश्वास—दोनों वायवी हैं, कर्म उन्हें शरीर और आस्था प्रदान करता है। जब तक कर्म से यह नहीं सिद्ध हो जाता, तब तक तर्क द्वारा उसे झुठलाते रहना व्यर्थ भी है और अनर्गल भी।

(१९) "किन्तु हम तो कवि···सहचर होता है।" (पृ० ९१, पं० १३)

ये पंक्तियाँ आचार्य विक्रममित्र की हैं और यवन-राजदूत हलोदर से कही जा रही हैं। कवि के सम्बन्ध में पाश्चात्य धारणा कुछ ऐसी है कि वह वायवी और पागल होता है—जीवन की वास्तविकताओं से पराङ्मुख, शतप्रतिशत भावना-लोक का निवासी। विक्रममित्र भारतीय कवियों की असामान्य विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि हमारे यहाँ का कवि लोक-धर्म से मुक्त होकर सिर्फ कला की ही आराधना नहीं कर सकता। भारतवर्ष का कवि भावना से साधारणीकृत करने को ही काव्य की संज्ञा प्रदान करता है। वह काव्य जो लोकधर्म से पराङ्मुख होता है, वास्तविक काव्य नहीं। हमारे कवि अपने मन की आँखों से जिस प्राकृतिक रहस्य या आध्यात्मिक सत्य को देखते हैं, उन्हें लोकरंजक वाणी में, लोक की काया और प्राण देकर सर्वसाधारण के हेतु सुबोध कर देते हैं। वे सामाजिक समस्याओं के व्याख्याता, सामाजिक भावनाओं के वैयाकरण और सामाजिक मेधा के नियंता होते हैं, और यह तब तक संभव नहीं हो सकता जब तक वे स्वयं कर्म-रत होकर सामाजिक अनुभवों से अपने आपको समृद्ध न करें। इसीलिए हमारा आदि कवि करुणा की कुक्षि से काव्य की उत्पत्ति मानता है, इसीलिए हमारा काव्य-नायक जीवन के कलुष और अपावन तत्त्वों से जूझता है, इसीलिए हमारी काव्य-नायिकाएँ रस से पूर्ण घड़े से हल की नोंक द्वारा उत्पन्न हुआ करती हैं।

(२०) "प्रकृति के साथ अनाचार···पटु रही है।" (पृ० ९८, पं० १३)

इन पंक्तियों में आचार्य विक्रममित्र, मेघरुद्र के प्रसंग में बौद्धों के प्रकृति-विरुद्ध अनाचारों की चर्चा करते हुए कह रहे हैं कि बौद्ध धर्म में पग-पग पर मनुष्य की स्वाभाविक वृत्तियों का हनन करना सिखलाया जाता रहा है। सौन्दर्य और यौवन के प्रति आकर्षण प्रकृति की देन है, हमारी सहज वृत्ति है विशिष्ट ऋतुओं में विशिष्ट प्रकारों से कार्य करने की। गौतम बुद्ध की शिक्षा में प्रकृति के सर्वथा प्रतिकूल कार्य करने का विधान रहा—सारा देश भिक्षुओं से भर गया। इन भिक्षुओं को कठोर नियंत्रण में रखना पड़ता था अपनी सहज वृत्तियों पर। फ

यह हुआ कि काषाय के नीचे का बुभुक्षित यौवन अपने पूरे वेग से टूट पड़ा और पंच मकारों की पूजा में अपने दुर्दान्त रूप में प्रकट हुआ। विक्रममित्र कहते हैं कि यह ठीक है कि दो-चार व्यक्ति ऐसा नियमन करने में समर्थ भी होते हैं, पर समुदाय विशिष्टता की ओर नहीं सहजता की ओर ही अभिमुख होता है। इन्होंने प्रकृति-विरोधी आचरण कर प्रकृति को रोकने का प्रयत्न किया। प्रकृति अट्टहास करती हुई अपने पूरे वेग से इन भिक्षुओं पर टूट पड़ी और तब जो इन्होंने घिनौने आचरण करना शुरू किया, उसे देखकर सभ्यता भी लजा गयी। उन्हीं घिनौनी प्रवृत्तियों के चलते मेघरुद्र भी इस इन्द्रजाल में फंसे। किसी बौद्ध तांत्रिक ने सम्मोहन का प्रयोग कर इन्हें अपने वश में कर लिया और इधर विदिशा में ला पटका।

——— ———

साधारण व्याख्या

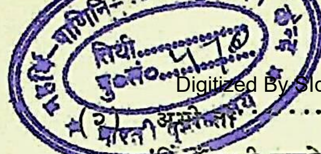
शब्दार्थ (पृ० ११-१३)—बेतवा = एक नदी । प्रासाद = महल । श्वेत = सफेद । गरुड़ध्वज = शुंगों और बाद चलकर गुप्त-वंशी राजाओं की पताका । सिंहद्वार = प्रासाद का प्रवेश-द्वार । सशस्त्र = शस्त्र के साथ । प्रहरी = पहरेदार । शिरस्त्राण = सिर की रक्षा करनेवाला लोहे का बना टोप । तीक्ष्ण = तेज । टेक = सहारे । प्राचीर = चहारदिवारी । चतुर्दिक = चारों तरफ। प्राचीर-मेखला—चहारदिवारी जो करधनी की तरह है । विभिन्न = तरह-तरह के । गोवत्स = बछड़े । श्वेत = सफेद । स्फटिक = संगमर्मर । यज्ञधूम = यज्ञ का धुआँ । संकोच = लज्जा । हल्दी लगाना = शादी होना । भाँवर = परिक्रमा करना, विवाह के अवसर पर अग्नि के चारों ओर जो वर-वधू घूमते हैं, फेरी । महावर = पैर में लगानेवाला लाल रंग । श्रेष्ठी = सेठ । रंगशाला = दुकान । कादम्बरी = शराब । तत्पर = तैयार ।

(१) धरती पर पुत्र······भाँवर घूम आया । (पृ० १३, पं० ३)

उद्धृत पंक्तियाँ उस पुष्कर द्वारा कही गयी हैं जिसे 'सिंह-पराक्रम' की उपाधि सेनापति द्वारा दी गयी है । उसने कुछ ही दिन पूर्व बिना किसी शस्त्रास्त्र के एक सिंह को मार गिराया था । इस संदर्भ में नागसेन लोमश और पुष्कर आदि प्रहरी आपस में बातें कर रहे हैं । लोमश का विवाह अभी हाल में ही हुआ है, जिसके प्रमाणस्वरूप अभी तक उसका शरीर उबटन (हल्दी) के चलते पीला-पीला-सा लग रहा है । पुष्कर मजाक कर रहा है और एक शोख साथी की तरह उसे चिढ़ा रहा है । साथ-साथ उस सामान्य सामाजिक मनोवृत्ति पर भी छींटाकशी कर रहा है जिसके चलते परिणय के गठबंधन में कोई बँधा नहीं कि पुत्रोत्पत्ति की आशा-आकांक्षा जग जाती है । प्रहरी जितना ही परिहास करते

चलते हैं कि लोमश लाज और संकोच से उतना ही दबता चला जाता है। साथी हैं कि लोमश जितना ही लजाता चला जा रहा है, उनके मन में मजाक के उतने ही बुलबुले बनते चले जाते हैं। बेचारे नागसेन को दया आ जाती है, वह लोमश की तरफदारी करता है, उसका पक्ष लेता है और दलील देता है। वह कहता है—इसमें संकोच और लज्जा की कोई आवश्यकता नहीं, विवाह कौन नहीं करता ? वह तो एक सर्वमान्य सर्वविदित सामाजिक संविधान है। पुष्कर ही कौन बचा हुआ है ! उसने भी तो हाल-फिलहाल ही विवाह किया है। साधारणतः २१-२२ की उम्र में लोग विवाह करते ही हैं। (उस समय की यही सामाजिक मान्यता रही होगी) बीसवाँ हेमंत बीता नहीं कि मन में वसंत अपनी पूरी मादकता के साथ छा जाता है, नसें कड़कने लगती हैं और मन में कोयल कूकने लगती है। सारी सृष्टि रंगीन, मादक और मोहक दिखायी पड़ने लगती है और मन में ऐसा लगता है कि कोई होनी, जिसकी गोद में अपने शरीर की सारी उष्णता उड़ेल कर शांत सो जाते।

शब्दार्थ (पृ० १४-१५)—कालिदास = प्रसिद्ध संस्कृत कवि। मेघदूत = कालिदास का विश्व-प्रसिद्ध प्रकृति-काव्य। यक्ष = एक जाति। मेघदूत का वह नायक जिसे कुबेर ने निर्वासन दे दिया था और जो उसी निर्वासित अवस्था में राजगिरि पर्वत से अलका-वासिनी अपनी प्रियतमा के पास मेघ के द्वारा संदेश भेजता है। राजदण्ड = राजाज्ञा, राजा का वह दंड जो उसकी शक्ति का प्रतीक माना जाता है। परिहास = मजाक। अनीति = नीति-विरुद्ध बातें। ग्रामीण = गाँव का रहनेवाला। अपेक्षित = जरूरी। शपथ = कसम। भीषण = भयानक। स्वर्गीय = स्वर्गवासी। पुष्यमित्र = प्रथम शुंग सेनापति जिसने अंतिम मौर्यसम्राट बृहद्रथ की हत्या कर मगध पर अपना अधिकार जमाया था। यशस्वी = प्रसिद्ध। कार्तिकेय = शिवजी के बड़े पुत्र, जिन्होंने देवताओं की सेना का सेनापतित्व कर निशाचरों को परास्त किया था। इसी पुत्र के लिए देवताओं ने शिव का विवाह पार्वती से कराया था। कोटि = श्रेणी। धनुर्धर = धनुष चलानेवाला। प्रासाद = महल। मर्यादा = सीमा, पंक्ति। दीक्षित = नियुक्त। लोकरंजन = संसार की भलाई के लिए। वर्जित = मना।



(२) अभी तो ......करनी पड़ेगी। (पृ० १५ पं० ९)

उद्धृत पंक्तियाँ प्रहरी नागसेन द्वारा कही गयी हैं। संदर्भ यह है कि जब पुष्कर बातचीत के क्रम में सेनापति आचार्य विक्रममित्र को 'महाराज' कह कर संबोधित कर देता है, तब नागसेन टोक देता है। प्रथम शुंभ सेनापति पुष्यमित्र ने लोक-रक्षा के लिए बृहद्रथ की हत्या की थी। यद्यपि जनता के आग्रह से उन्हें राज्य तो सम्हालना ही पड़ा, पर उन्होंने यह विधान बना दिया कि वे और उनके वंशज जनता की धरोहर के रूप में इस राज्य का प्रवन्ध करेंगे, उपभोग नहीं; जनता की सेवा करेंगे, जनता पर राज्य नहीं, अतएव वे सेवक या सेनापति कहलायँगे, राजा-महाराजा नहीं। यह प्रासाद उन्हीं के सुपुत्र श्री अग्निमित्र का बनाया हुआ है, जिनके सुपुत्र का नाम वसुमित्र था और जो इतने वीर थे कि १६ वर्ष की अवस्था में ही सभी यवनों को मार-मारकर सिंधु पार खदेड़ दिया। नागसेन अपने प्रहरी-मित्रों को बता रहा है कि अभी तो हमलोगों को उसी प्रासाद की रक्षा की शिक्षा भर दी जा रही है। वह पुष्कर को इसका भी संकेत दे रहा है कि उसने जाने या अनजाने राज्यानुशासन की अवहेलना की है; राजदण्ड के साथ परिहास किया है। इस पर पुष्कर भय से काँप उठता है और स्पष्ट करता है कि उसने अनजान में ही विक्रममित्र को 'महराज' कह दिया है। विक्रममित्र अत्यन्त कठिन अनुशासन प्रिय व्यक्ति हैं, इसलिए पुष्कर उनके कठिन दंड की कल्पना से घबरा उठता है। वह नागसेन और अपने अन्य प्रहरी-मित्रों से क्षमा माँगता है, प्रार्थना करता है कि ये बातें आचार्य विक्रममित्र को किसी प्रकार भी मालूम न हों। नागसेन, अव्वल तो यह बताता है कि विक्रममित्र के शासन में अनीति चाहे कितनी छोटी क्यों न हो छिपी नहीं रह सकती। और दोयम, यह कि अगर मैं इसकी सूचना न दूँ तो रक्षकों की मर्यादा का उल्लंघन होता है। आचार्य विक्रममित्र के अनुशासन में रहकर, गरुड़ध्वज की शपथ खाकर मैं कहता हूँ कि यह अधर्म मुझसे न हो सकेगा। पुष्कर अब और डर से काँपने लगता है और कहता है कि तब तो उसे भीषण दण्ड भोगना ही पड़ेगा। पर लोमश, इसे दूसरे रूप में लेता है—वह कहता है कि यह तो अत्यन्त साधारण बात है, पुष्कर ने अवहेलना नहीं की है, किसी को अपदस्थ भी नहीं किया है, कुछ उच्च

और वास्तविक प्रशंसा ही की है। नागसेन कहता है कि ऐसा, तुम इसलिए बोल रहे हो कि अभी तक तुम्हें इस प्रासाद की रक्षा की शिक्षा भर दी जा रही है। शिक्षा पूरी हो जाने पर तुम्हें विक्रममित्र के राज्य के धर्म प्रतीक गरुड़ध्वज की शपथ लेनी होगी, तभी तुम दीक्षित माने जाओगे। उस दिन तुम्हें यह भी प्रतिज्ञा करनी होगी कि तुम विक्रममित्र के लिए कभी राजा-महाराजा विशेषण का प्रयोग न करोगे और अनुशासन की मर्यादा का अतिक्रमण न करोगे। इन पंक्तियों से शुंग-कालीन नैतिकता, अनुशासन-प्रियता और आचरण की कठोरता पर प्रकाश पड़ता है।

शब्दार्थ (पृ० १६-१७) :—अक्षम्य = जो क्षमा नहीं किया जा सके। विधान = कायदा-कानून। अनादर = कुप्रतिष्ठा। अधर्म = अनीति। यवन = ग्रीक देश के लोग। आततायी = अत्याचारी। दत्तमित्र = डिमेट्रियस। जनपद = प्रजातांत्रिक ढंग से राज्य-कार्य करनेवाले प्राचीन भारत के गण। अपहरण = उड़ाकर ले जाना। आक्रांत = आक्रमणकारियों द्वारा पददलित। त्राहि-त्राहि = रक्षा करो-रक्षा करो। तारकासुर = एक राक्षस, जिसे शिवजी के पुत्र कार्तिकेय ने पराजित किया। अमरावती = देवलोक। विन्ध्य = पर्वत। रास रचाना = मौज करना। बुद्ध-विहार = बौद्धमठ, जहाँ भिक्षु-भिक्षुणियाँ अपने अनुशासन के अंदर रहते थे।

(३) तारकासुर से……रास रचा करता था। (पृ० १७ पं० १०)

इस पंक्ति में नागसेन आचार्य सेनापति विक्रममित्र के पूर्वज स्वर्गीय पुष्यमित्र के युग के समाज एवं बौद्ध राजाओं की अकर्मण्यता एवं विलास पर प्रकाश डालते हुए कहता है कि भगवान् बुद्ध ने भले ही राज्य और यशोधरा का त्याग किया हो, पर उनके चेले वैसा नहीं कर सके। वे सभी पंच मकारी थे। मद्य, मांस, मिथुन के पीछे पागल रहनेवाले इन राजाओं के राज्य में प्रजा से बेशुमार कर वसूले जाते थे, चारों ओर भयंकर अनीति का राज्य था। प्रजा में शांति नहीं थी। देश दुर्बल बन गया था। विदेशी आक्रमणकारियों के दल-के-दल देश पर टूट रहे थे और प्रजा को लूट-खसोट रहे थे। चारों ओर त्राहि-त्राहि

मची हुई थी। दुर्द्धर्ष आततायी यवनों के सामने अहिंसक और अकर्मण्य रा नतमस्तक बन गया था। उनकी तलवारों पर जंग लग गयी थी, उंगलि मूठ पर जमने का नाम ही नहीं लेती थीं। किसी में इतनी क्षमता नहीं कि उनका सामना करता। सारा राष्ट्र क्षत-विक्षत और परस्पर विरोधी आचर कर रहा था। नतीजा, पदाक्रान्त प्रजा त्राहि-त्राहि करती रही, सुरा से ज राजकुमार और तपोपूत महर्षि विन्ध्याचल की गुफाओं में छिपे बैठे रहे। जि प्रकार त्रेता-युग में भयंकर निशाचर तारकासुर के भय से देवताओं ने देवलो छोड़ दिया था, उसी प्रकार यवनों के अत्याचार से प्रताड़ित हो सभी राजे अप अपना राज्य छोड़ भाग खड़े हुए थे। धर्म की स्थिति भी इसी प्रकार अव्यवस्थि थी। ब्राह्मण और बौद्ध धर्म में पारस्परिक विद्वेष इस हद तक बढ़ गया था राष्ट्र की ओर किसी का ध्यान ही नहीं था। बौद्ध इन यवन आततायियों निमंत्रण दे-देकर बुलाते थे और ब्राह्मण-पीठों को लूट लेने का संकेत देते थे यवन एक-एक कर राष्ट्र के अंगों—पंजाब से लेकर साकेत तक के भू-भागों लूटते हुए मगध की सीमा पर आ गये थे, तभी पुष्यमित्र का आविर्भाव हुआ उन्होंने बौद्ध राजा को मारकर ब्राह्मण धर्म की पुनर्स्थापना की और आततायि का सामना करने के लिए राष्ट्र को सन्नद्ध किया।

शब्दार्थ—(पृ० १८-१९) :—जंजाल = गड़बड़, जादू-टोना, भ्रष्टाचार मुण्डित = मूँड़ मुड़ाये हुए। किशोर = युवा। किशोरियाँ = युवतियाँ तथागत = भगवान बुद्ध। शाक्यमुनि = भगवान् बुद्ध का दूसरा नाम, कुल कारण। मनुष्यमात्र = मानव समुदाय। श्रमण = बौद्ध भिक्षु। पुनर्जन्म = फ़िर से जन्म लेना। नास्तिक = जो वेदों को न माने। षड्यंत्र = अभिसंधि लक्ष्य = आदर्श, सिद्धि। आस्था = विश्वास। ध्वंस = विनाश। प्रमाण = उदाहरण। अंगरक्षक = किसी राज्याधिकारी के अगल-बगल चलनेवाले सश सैनिक। आहत = घायल। उपचार = परिचर्या। कलिंग = वर्त्तमान उड़ीस मेघवाहन खारवलि = कलिंग का ब्राह्मण राजा। नृशंस = जिसमें मानवता न हो आततायी, अत्याचारी। वध = हत्या। कलंकित = अपमानित।

(४) साकेत और गोमठ······खुल भी गयी। (पृ० १९, पं० ५)

इन पंक्तियों में प्रहरी नागसेन, लोमश की जिज्ञासा पर आचार्य सेनापति पुष्यमित्र के कार्यों का वर्णन कर रहा है। बौद्धों ने ब्राह्मण-धर्म को जड़ से उखाड़ फेंकने के लिए यवन आक्रमणकारी दत्तमित्र को निमंत्रण दिया। फलतः दत्तमित्र का दोहरा उद्देश्य होता था। एक तो वैदिक विधान के स्थलों को ध्वस्त करना, दूसरे प्रजा की सम्पत्ति को लूटना, उनकी प्रतिष्ठा का अपहरण करना और राज्य स्थापित करना। बौद्ध इतने अकर्मण्य बन गये थे कि न तो वे लड़ सकते थे, न तर्क कर सकते थे और न अपनी ही स्थिति को अपने बल पर अधिक दिनों तक सुरक्षित रख सकते थे। भयंकर उथल-पुथल, हलचल और अस्त-व्यस्तता का युग था वह। आचार्य पुष्यमित्र के प्रयत्न से पुनः ब्राह्मण-धर्म का जागरण हुआ। जहाँ-तहाँ छोटे-मोटे यज्ञ एवं रामायण तथा महाभारत की कथा होने लगी। यहाँ तक कि बौद्ध काशिराज के प्रासाद के सिंहद्वार के सामने ही लोगों ने भैंस की बलि दी। ये घटनाएँ, ब्राह्मण-धर्म का यह पुनर्जागरण बौद्धों को बर्दाश्त नहीं हुए। उनमें अपनी क्षमता तो थी नहीं, उन्होंने यवन आक्रण-कारियों का साथ दिया। वह चुन-चुनकर उन गाँवों और सिद्ध-पीठों को प्रताड़ित करने लगा जो ब्राह्मण-धर्म में आस्था रखते थे। बगल के ही बौद्ध-विहारों को वह छूता तक नहीं था, बल्कि वहीं अपना शिविर और प्रधान कार्यालय स्थापित करता था। बौद्ध नास्तिकों और यवन आक्रमणकारियों की यह अभिसंधि बाद चलकर खुल गयी। आचार्य सेनापति पुष्यमित्र ने जब दत्तमित्र को साकेत से खदेड़ा तो उसका अंगरक्षक सोलुक पकड़ा गया। उसी ने इस राजनैतिक गठबंधन का भंडाफोड़ किया और तब वस्तुस्थिति स्पष्ट हो सकी। इन पंक्तियों में बौद्ध नास्तिकों की धर्मप्रियता के चलते उनके राष्ट्रद्रोह पर प्रकाश डाला गया है और बताया गया है कि हम, आक्रमणकारियों के सम्मुख तभी पराभूत हुए जब हमारे अपने ही भाइयों ने हमारे साथ विश्वासघात किया था। यह तथ्य उसी सत्य की ओर संकेत कर रहा है।

शब्दार्थ (पृ० २०-२१) :—घृणित = जिससे घृणा की जाय। वंश-परम्परा = वंशजों। सेनानी = सेनापति। तलारक्ष = जनरक्षक। वंठ =

सेवक। अग्राह्य = जो ग्रहण करने योग्य न हो। ईशानकोण पर खंजन देखना = अपशकुन। वीरगति = युद्ध में मर जानवाले वीर की गति। प्रासाद-प्रहरी = राजमहल का पहरेदार। अपवाद = बुरा नाम। अनुशासन-भंग = राजा... भंग। दोष = अपराध, कलंक। अग्नि में कूदना = जान-बूझ कर जान ... जोखिम में डालना। नाद = लाद। एक नाद का पशु = साथ-साथ विचर... करनेवाले। यथाशक्य = शक्ति भर, भरसक। अनीति = अन्याय। भागी = हिस्सेदार।

(५) उनका न्याय में.........मेरी मृत्यु। (पृ० २०, पं० १८)।

यह पंक्ति पुष्कर द्वारा कही गयी है तब, जब प्रहरी-मित्र लोमश ने ... निश्चिन्त रहने का संकेत करते हुए यह विश्वास प्रकट किया कि आचार्य सेनाप... विक्रममित्र उसके इस छोटे-से अपराध को क्षमा कर देंगे। उनके राज्य में आजत... अन्याय नहीं हुआ तो फिर आज कैसे हो सकता है। उसने अपनी आत्मा ... दोहाई दी है—"मेरा मन यही कह रहा है।" इस पर पुष्कर आचार्य विक्रममि... की अनुशासन प्रियता और न्यायप्रियता के प्रति अपनी आस्था का प्रदर्शन कर... हुए यह कहता है कि मुझे मालूम है न्याय के लिए वे अपनी आँखें फोड़ सक... हैं—यानी अपने हाथों से ही अपनी सबसे प्यारी चीज को भी बिना किसी माया-मो... के सूली पर लटका दे सकते हैं। अपना हाथ काट सकते हैं—यानी अपने स... विश्वासी सहकर्मी को भी सजा दे सकते हैं। इसलिए पुष्कर निष्कर्ष निकाल... है कि उसे भी इस अनुशासन-भंग के चलते अवश्य ही मृत्युदंड दिया जायगा। माना कि वह बड़ा पराक्रमी है, वीर है। कल-परसो ही उसने बिना किसी श... के सिंह को पराभूत कर दिया और 'सिंह-पराक्रम' की उपाधि से विभूषित कि... गया है वह। इससे क्या होता है। विक्रममित्र का न्याय सिर्फ एक ही तथ्य ... देखता है—न्याय की रक्षा—बस।

(६) मृत्यु से नहीं.........दोष से। (पृ० २१, पं० २)।

यह पंक्ति भी पुष्कर द्वारा ही कही गयी है। पुष्कर को दृढ़ विश्वास है ... सेनापति विक्रममित्र को 'महाराज' कह कर उसने अनुशासन की जिस मर्यादा ... अतिक्रमण किया है, उसके लिए उसे निश्चय ही प्राणदंड मिलेगा। इस ...

नागसेन ने कहा कि—सेनापति विक्रममित्र के प्रासाद-प्रहरी को इस तरह मृत्यु से नहीं डरना चाहिये। इसी पर पुष्कर की यह उपर्युक्त पंक्ति है। पुष्कर कहता है कि वह मृत्यु से नहीं डरता। मृत्यु से डरने की बात रहती तो कल-परसों ही वह दुर्द्धर्ष भूखे सिंह के मुँह में हाथ डाल कर उसकी गरदन न मरोड़ सकता। वह डरता है सिर्फ इस लांछन से कि लोग कहेंगे—सेनापति विक्रममित्र के प्रासाद-प्रहरी ने अनुशासन-भंग किया। यह वह सहन नहीं कर सकता। वह अपमानित और कलंकित जीवन को ढोना नहीं चाहता। इसके लिए मरने के बाद भी उसकी आत्मा को मुक्ति नहीं मिलेगी। यह किसी भी प्रहरी के गौरव के अनुकूल नहीं, विक्रममित्र के प्रासाद-प्रहरी के गौरव की तो बात ही क्या! मरने पर भी मेरे सहकर्मी मुझसे घृणा करेंगे, मेरे नाम पर थूकेंगे, मेरे प्रति अश्रद्धा व्यक्त करेंगे। यही कारण है कि वह फूट-फूट कर रो उठा है, उसका स्वर टूट-टूट गया है। यदि वह युद्ध में मृत्यु का वरण करता तो उसे वीरगति प्राप्त होती। इस प्रकार तो वह मरेगा भी और वीर का सम्मान भी नहीं प्राप्त होगा उसे। उल्टे अनुशासन भंग का कलंक।

शब्दार्थ—(पृ० २२-२५)—जुड़वाँ = एक साथ उत्पन्न होने वाली संतान। तेजमिश्रित = प्रभामय। लावण्य = सौन्दर्य। रत्नजटित = रत्नों से जड़ा हुआ। केशराशि = बाल। व्यवस्थित = कसा हुआ, सीटा हुआ। आयु = उम्र। रगड़-झगड़ = हल्ला, तू-तू—मैं-मैं। सिंह-पराक्रम = सिंह के समान शौर्य वाला। उपाधि = पदवी। अशुभ = बुरा। वचनबद्ध = वचन में बँधे हुए, प्रतिज्ञा। दैव का विधान = भाग्य का लिखा। वश = बल, अधिकार। अभय = निर्भय। शरणागत = शरण में आया हुआ, आश्रय की माँग करने वाला। अनिष्ट = बुराई। कण-कण = चप्पा-चप्पा। मंत्र = सीख। शरणागत-रक्षा = शरणागत की रक्षा। पूर्वज = बाप-दादे। राजभृत्य = सरकारी नौकर। दण्ड = लाठी। ललाट = माथा। हाथ टेककर = हाथ ले जाकर; मिलाकर। आनन्द विभोर = आनन्द में डूब कर। नीलम = एक रत्न। माणिक्य = मणि। अखिल = समस्त। लोक-गौरव = जनता या राष्ट्र का गौरव। शुद्धि = पवित्रता! क्रियाएँ = विधान।

ब्रह्ममुहूर्त = सूर्योदय और पौ फटने के बीच की बेला। अनुष्ठान = उपचार। रुष्ट = क्रुद्ध। खिन्न = नाराज।

(७) पुष्यमित्र की........राह नहीं होती (पृ० २२ पं० १)

यह पंक्ति पुष्कर द्वारा तब कही गयी है जब नागसेन ने उसे यह आश्वा... दिया है कि वे लोग सेनापति विक्रममित्र को यह नहीं बतायँगे कि उसने ... 'महाराज' कहकर संबोधित किया है। साथ-ही-साथ पुष्कर को विक्रममित्र ... न्यायप्रियता में आस्था रखकर अब मृत्यु को स्वीकार करते देख नागसेन ने ... भी संकेत किया है कि वह जान बूझ कर आग में न कूद पड़े। प्रतीक्षा ... और देखे कि आगे क्या होता है। इसी पर पुष्कर कहता है कि जब एक ... विचरण करनेवाले पशुओं में भी यह सौहार्द्र भाव और सह-भाव देखा जाता ... तो हम तो आखिर मनुष्य हैं। मैं जानता हूँ कि तुमलोग भरसक मुझे म... नहीं दोगे, इसके लिए भले ही तुम्हें झूठ बोलना पड़े, अन्याय का भागी बन... पड़े। पुष्कर पुनः नागसेन की ओर संकेत करते हुए कहता है कि तुम्हीं ने ... यह बताया था कि जीवन-पर्यन्त तुम आचार्य पुष्यमित्र की मर्यादा के बाँध ... छेद न होने दोगे, उस मर्यादा का अतिक्रमण न करोगे, तो फिर यह बात क्यों ... एक दिन तो सबको मरना ही है, अमृत पीकर तो इस मृत्यु भुवन पर कोई आ... नहीं। लेकिन न्याय की रक्षा के नाम पर क्यों न मर मिटें! अन्याय करके जीवन ... रक्षा से क्या प्रयोजन!

(८) किसी के मन में···खिन्न हो उठीं। (पृ० २५, पं० नीचे से १०)

प्रस्तुत पंक्तियों में नाटककारों ने पुष्कर की खोज में आये हुए राजभृत्य ... द्वारा 'गरुड़ध्वज' की पवित्रता और महत्ता पर प्रकाश डाला है। राजभृत्य के हा... में सोने के दंड पर नीलम, मोती और माणिक्य के बना गरुड़ध्वज सुशोभित ... जिसे काशिराज की कुमारी कन्या वासंती स्पर्श करना चाहती है। राजभृ... बरजता है। वासंती कहती है कि वह स्नान कर चुकी है। राजभृत्य कह... है कि आपने पूजा तो नहीं ही की होगी। स्नान से शरीर शुद्ध होता है—बहि... पक्ष। पूजा से मन शुद्ध होता है—अंतर्पक्ष। तन-मन से पवित्र होने ... पश्चात् ही कोई गरुड़ध्वज को छू सकता है। (जरा इसकी तुलना आजकल ...

मिनिस्टरों की मोटरों पर फरफराने वाले राष्ट्रध्वज से करें, जिसके सम्बन्ध में दिनकरजी का यह कथन द्रष्टव्य है—"अपनी मोटर में लगा तीन रंग का चिथड़ा। देखा करते कितनों की नजरें पड़ती हैं मुझ पर। मुझ पर, यानी आजादी के पैगंबर पर।) गरुड़ध्वज, राष्ट्रीय ध्वज है, अखिल लोक का गौरव है। इसके सम्मान की रक्षा के लिए सब कुछ की बलि दी जा सकती है। जो हाथ निर्ममता के साथ इसका स्पर्श करेगा, विधान है, उसका हाथ काट लिया जायगा। यह हमेशा शान के साथ फरफराता रहे, इसके लिए वीरों के खून से इसे सींचा जाता है। इस पर वासंती कहती है हमलोगों के मन में क्या हुआ है? भृत्य कहता है कि मन में कुछ रहे या न रहे—पवित्रता की जो क्रियाएँ हैं, जो अनुष्ठान हैं, उन्हें तो करना ही चाहिए। देखिये, सेनापति विक्रममित्र रोज ब्रह्म मुहुर्त्त में बेतवा के जल में कंठ तक डूब कर, पूरे एक पहर तक पूजा, यज्ञ और अनुष्ठान के बाद इस ध्वज को अपनी आँखों से लगाते हैं, सर पर धारण करते हैं। और अनुशासन, विक्रममित्र का पर्यायवाची शब्द है। उसे वे शरीर रहते अतिक्रमण तो क्या, शिथिल भी नहीं होने दे सकते। शुंगकुल का यह आदर्श विधान अनुकरणीय है। मुझे विश्वास है—राजकुमारियाँ मेरे इस वर्जन का अर्थ अन्यथा न लें, मन में खिन्नता न लावें। इन पंक्तियों में नाटककार ने बड़े ही कौशल से राष्ट्रीय ध्वज के प्रति नागरिकों और शासकों की निष्ठा को प्रदर्शित किया है। साथ-ही-साथ आचार्य विक्रममित्र की अनुशासन प्रियता पर भी प्रकाश डाला है। भृत्य का आत्मविश्वास कितना प्रबल है, कर्त्तव्यपरायणता कितनी सबल है कि वह विधान के विपरीत कार्य करने से राजकुमारियों को भी रोक सकता है।

शब्दार्थ :—(पृ० २६-२९)—ललित कला = कला का दूसरा भेद जिसमें कम से कम आधार लेकर अधिक से अधिक सौन्दर्य की अभिव्यंजना की जाती है। इसके पाँच प्रकार हैं—स्थापत्य, शिल्प, चित्र, संगीत और काव्य। गौण = अप्रधान। विडम्बना = ढकोसला, पाखंड। ब्रह्म = विधाता, जिसने सृष्टि का निर्माण किया है और जिसके मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, उरु से वैश्य तथा पैर से शूद्र की उत्पत्ति बतायी गयी है। सिद्धसरस्वती = जिसको सरस्वती सिद्ध हो। चक्र = फेर। ठेठी = नीचकार्य। ध्वजधारी = ध्वजधारण करनेवाले। अभियोग =

दोषारोपण। आँखें बचाकर = चोरी-चुक्की से। दूसरा जन्म = पुनर्जन्म। मंडल = समूह। साँस = प्राण। आकाश में अटकना = अधर में लटकना, साँसत में आ जाना। विषाद = दुःख। आकृति = चेहरा। सिंह-विक्रम = पुष्कर को दी गयी उपाधि। सहस्रदल = कमल का एक प्रकार जिसमें बहुत अधिक दल होते हैं। असह्य = असहनीय। नित्य = रोज, सदैव। आवश्यक = जरूरी। मंत्रि-परिषद् = कैबिनेट। मृगचर्म = आसन के योग्य बनाया गया मृग का उतारा हुआ चमड़ा। संकल्प = दृढ़ विचार।

(९) इस लिए मैं पहले······मृत्यु का। (पृ० २९, पं० १४)।

यह उक्ति आचार्य सेनापति विक्रममित्र की है जो वासंती प्रकट कर रही है। प्रसंग यह है कि मलयकुमारी इस बात पर दृढ़ संकल्प है कि वह किसी-न-किसी प्रकार अनुशासन-भंग करनेवाले पुष्कर को बचा लेगी, क्योंकि आचार्य विक्रममित्र ने उसकी कोई एक मांग पूरी करने का वचन कभी दिया था। इसी बीच राजभृत्य पुष्कर की खोज करता हुआ उपस्थित होता है। भय और आशंका से मलयवती पुष्कर को यह कह कर टरका देती है कि वह राजकुमारी के लिए सहस्रदलकमल लाने गया है। मलयकुमारी ने पुष्कर को यह बताया है कि यदि कोई रोके तो वह झट कह दे कि राजकुमार मलयवती के लिए सहस्रदल-कमल लाने जा रहा है। तब तक वह उसको बचाने के लिए यत्न करेगी! साथ ही शीघ्र से शीघ्र वह कमल लेकर लौट भी आवे जिससे कोई यह न समझ ले कि राजदंड से बचाने के लिए उसे राजकुमारी ने भगा दिया है। इसी पर वासंती ने कहा कि मलयकुमारी की यह समझना मूर्खतावश है कि वह पुष्कर को आरजू-मिन्नतकर दंड से बचा लेगी। उसे उस दिन की बात याद आती है जब सेनापति ने इन्हीं राजकुमारियों से पूछा था कि वे उन्हें क्या समझती हैं। इनके उत्तर देने के पूर्व ही उन्होंने कहा कि कहीं कोई भूल से मुझे कोई घृणित विशेषण न दे-दे, इसलिए पहले ही बता दूँ कि मैं सेवक हूँ। सेनापति होने के चलते धर्म और जाति का सबसे बड़ा सेवक हूँ। सबसे बड़ा सेवक वह जो संकट में प्रजा के सबसे आगे रहकर या तो संकटों को पराभूत करता है, नहीं तो सबसे पहले मृत्यु का वरण करता है। इस कथन से शासक के आदर्श पर प्रकाश पड़ता है।

शब्दार्थ (पृ० ३०-३४)—प्राप्य = प्राप्त करने योग्य। जन्म-जन्मान्तर = जन्म-जन्म से। कलिंगसेना = कुमार विषमशील की पत्नी। प्रणय = प्रेम। कुमार संभव = महाकवि कालिदास का काव्य जिसमें शिव-पार्वती के प्रेम और विवाह का सविस्तार वर्णन किया गया है। निर्विकार = जिसमें कोई विकार न हो, निरीह। सौम्यदर्शना = कुमार विषमशील की विधवा माँ और मृत अवन्ती-नरेश महेन्द्रादित्य की पत्नी। दुर्लभ = जो सुलभ न हो। सिद्धि = सार्थकता, चरम लक्ष्य। मोहित = लुब्ध। धर्मचक्र = बौद्धों का प्रतीक। उपासक = पुजारी। भूत = जीव। अश्वमेध = हिन्दुओं का सबसे बड़ा यज्ञ जिसमें अश्व की बलि चढ़ती है। विधि = नियम। क्लेश = दुःख। स्वाभाविक = प्राकृतिक। अन्यत्र = दूसरी जगह। शाकल = वर्तमान स्यालकोट जो अब पश्चिमी पाकिस्तान में है। दशा = हालत। उपकार = भलाई। निर्निमेष = एकटक। आकृति = चेहरा। गोवत्स = गाय का बछड़ा। महासमुद्र = महासागर। कैलाश पर्वत = शिव का निवास-स्थान, आनन्द का प्रतीक पर्वत। उलझन = समस्या। नाक की सीध = बिना आगा-पीछे सोचे दूसरों के बताये मार्ग पर चलना, लकीर का फकीर। दायें-बायें = तितर-बितर, इधर-उधर।

(१०) यही तो उलझन…………दायें-बायें करेंगे।

(पृ० ३४, पं० नीचे से ६)

इस उद्धरण में काशी की राजकुमारी वासन्ती बौद्धों और ब्राह्मणों के अतिवाद पर, उनके धार्मिक विद्वेष पर प्रकाश डालती हुई कहती है कि बौद्धों ने भगवान बुद्ध के पंचशील के सिद्धान्त, अहिंसा और भूतदया तथा मानव-मानव के साथ समान और करुणा के व्यवहार को इतना कस कर पकड़ा कि उन्हें अपने-पराये में, स्वराष्ट्र और परराष्ट्र में, देश-प्रेमी और देशद्रोही में कोई भेद ही नहीं मालूम पड़ा। नतीजा वे बुद्ध शरण का उच्चारण करते रहे और इधर 'वीरान हुआ प्यारा स्वदेश'। सारा राष्ट्र पददलित हुआ, बहू-बेटियों की इज्जत लूटी गयी और स्वतंत्रता का अपहरण हुआ। यह एक अति थी जिसका यह प्रतिफल मिला। अब वैष्णव, बौद्धों की प्रतिक्रिया में, जो कुछ भी बौद्ध हैं सबका नामो-निशान मिटाने को तुल गये हैं, वे सिर्फ अपने को ही, स्वराष्ट्र को ही, और

हिंसा को ही देख रहे हैं। इस अति का भी परिणाम अच्छा नहीं होगा। इन्हें भी कोई दूसरी शक्ति ठोकर मारेगी और इनके होस ठिकाने लगायगी।

शब्दार्थ (३५-३६)—अनिष्ट = नुकसान, हानि। गाँठ बाँध लेना = सुरक्षित रखना, याद रखना। वैदिक विद्या = वेद-वेदांग सम्बन्धी ज्ञान। पाण्ड्यपुरी = आन्ध्र देश। छत्र = छाता, राज-सम्मान का द्योतक। दहकना = चमकना। तेज = रौब। सम्बोधित करना = पुकारना। दर्शनीय = देखने योग्य। भृगुकूट = एक पर्वत, जिस पर कभी भगवान् परशुराम ने तपस्या की थी। लोकजयी = विश्वजयी। परशुराम = भृगुपुत्र, एक क्रोधी ब्राह्मण तपस्वी जिसने इक्कीस बार क्षत्रियों का संहार किया था। भाग्यवती = सौभाग्यवाली। विवशता = बेबसी। पितृगृह = पिता का घर, पीहर। वन्यजीव = जंगली जानवर। गुप्तचर = खुफिया। उस लोक की यात्रा = परलोक गमन। अपकार = बुराई। रक्षा = संरक्षण। अन्तर्वेद = गंगा-यमुना के बीच का भू-भाग, दो आब। यवनदस्यु = ग्रीक लुटेरा। आर्या = पत्नी। शिवि-संघ = पंजाब-राजस्थान की सीमा पर स्थित शिवि जाति के लोगों का प्रजातंत्र। टूक-टूक होना = फटना। भूतनाथ = भगवान् शंकर। राजमहिषी = महारानी। चिरजीवी = चिरकाल तक जीवित रहनेवाला। महाकाल = भगवान् शंकर। चक्रवर्त्ती = चक्रवर्त्ती उस राजा को कहते थे जो अनेक राजों का प्रधान होता था। अपने राज्य में प्रत्येक राजे को पूरी स्वतंत्रता थी, पर देश पर विपत्ति के समय या और किसी अवसर पर वे सभी चक्रवर्त्ती के अधीन होकर एक जुट होकर शत्रु का सामना करने को कृत संकल्प होते थे, सार्वभौम। स्मरण = याद। प्रतिष्ठान = सातवाहनों का राज्य। स्वरूप = रूप। क्षत्रप = शकों के शासक की उपाधि। निवारण = हटाना। अवलम्ब = सहारा।

(११) जहाँ यह म्लेच्छ............निवारण करेंगे।

(पृ० ३९, पं० ६)

प्रस्तुत अवतरण में मलयकुमारी और काशी की राजकुमारी के बीच वार्तालाप के क्रम में मलयवती शकों के परास्त हो जाने के बाद जो देश की सौभाग्य-चाँदनी छिटकेगी, उसी का भविष्यत संकेत दे रही है। वासन्ती का स्वर

अपने दुखों के चलते दर्दीला है। वह अपने अंधकारपूर्ण भविष्य के विषय में सोचते-सोचते व्यथा से भर उठी है। वासन्ती ने अपनी हृदय-विदारक कथा कही है, साथ-ही-साथ विरोध में अपनी सखी मलयकुमारी के सौभाग्य पर भी प्रकाश डालती चली जाती है। उसने मलयकुमारी को बताया कि वह दिन दूर नहीं जब कि वह इस देश की सबसे बड़ी राजमहिषी होगी, भारतवर्ष के चक्रवर्त्ती सम्राट् विषमशील के हृदय-सिंहासन पर स्थापित होगी। मलयवती इस सुनहले भविष्य की बात अपनी प्रिय सखि के मुख से सुनकर मन-ही-मन गद्गद् हो उठती है, फिर भी साधारण औपचारिक भाषा में कहती है कि सखी, तुम तो मधु की वर्षा कर रही हो। वासन्ती का टीसता हुआ हृदय रो पड़ता है—"मैं दुःख से जल जो रही हूँ।" मलयवती इस दर्द-भरी वाणी की सहज ही उपेक्षा कर जाती है और अपने भविष्य की कल्पना में इस सीमा तक डूब जाती है कि कहने लगती है—देखना, जरा इस म्लेच्छ क्षत्रप को अवंती से भाग जाने दो। इस राहु की अवधि के समाप्त होते ही भारतवर्ष में वह नवल चाँदनी छिटकेगी कि इस देश में कोई व्यक्ति दुःखी नहीं रहेगा। लोग देखेंगे कि रामराज्य किसे कहते हैं। और सखी, तब तुम्हारा भी दुःख, सुख में परिवर्तित हो जायगा।

शब्दार्थ (पृ० ४०-४१) :—क्लेश = कष्ट। जीभ को लकवा मार जाना = मूक हो जाना, निर्वाक् हो जाना। अवसर = मौका। अवशेष = खंडहर, शेष। निरीक्षण = देखना। गुप्तचर = खुफिया। रामचन्द्र = दशरथ-सुत अयोध्यापति रामचन्द्र। सीता = जनकतनया। प्रसंग उस कथा का है जब रामचन्द्र लंका से सीता का उद्धार कर अयोध्या लौटते हैं। उनका राज्याभिषेक होता है। इसी बीच भयंकर रूप से एक अपवाद फैलता है और एक धोबी वस्तुतः कह भी देता है। धोबी अपनी पत्नी से कह रहा था कि वह उस सीता की तरह उसे धोखा न दे सकेगी जो कि महीनों राक्षसों के यहाँ रही, और फिर रघुकुल में रख ली गयी। स्पष्टतः यह सीता की प्रतिष्ठा पर आघात था। राम इस लोकनिन्दा से तिलमिला उठे और सीता को निर्वासन मिला। सीता भी लोक-रक्षा के लिए निर्विकार भाव से वन को चली जाती हैं। उस समय सीता गर्भवती थी, और उसे जंगल तक छोड़ने को स्वयं लक्ष्मण गये थे।

(१२) किसका किसका······छोड़ना भी पड़ा। (पृ० ४१-४२)

मलय की राजकुमारी मलयवती और काशी की राजकुमारी वासंती के बीच वार्तालाप हो रहा है। दोनों अपने-अपने भविष्य के जीवन पर विचार-विमर्श कर रही हैं। एक के जीवन की चाँदनी रात में कभी कोई मेघ का टुकड़ा न आया, और दूसरे के जीवन की बरसात में कभी कोई चाँदनी न छिटकी। इसीलिए एक का स्वर आह्लाद और उल्लास से पूर्ण है, दूसरी का कसक और टीस से ओतप्रोत। फलतः पहली दूसरी का प्रबोध करती है। पर दूसरी का हृदय दुःख से इस तरह लबालब भरा है कि आशंका होती है किस क्षण वह अपनी जीवन-लीला समाप्त कर दे। वासंती शाकल के यवन-राजकुमार से चुपके-चुपके ब्याही गयी, बीहड़ जंगली रास्तों से अपने पति के साथ चोरी से विदा की गयी। इस बीच अभी तक वासंती ने अपने पति का मुख भी नहीं देखा, उसे पता भी नहीं कि वह ब्याही भी गयी है। गुप्तचरों से आचार्य विक्रममित्र को ज्ञात हुआ कि अन्तर्वेद की आर्य-ललना को लेकर यवन-राजकुमार शाकल जा रहा है। विदिशा के सैनिकों द्वारा उसका उद्धार किया गया। वासंती को आशंका है कि अब कौन भारतीय राजकुमार उससे ब्याह करेगा क्योंकि लोक में तो यह बात फैल गयी कि वह यवन से ब्याही गयी थी, कई दिनों तक उसके साथ जंगलों में रही थी, अतएव वह पवित्र नहीं रही होगी। मलयवती समझाती है—नहीं, ऐसी बात नहीं है। जो भी ऐसा कहता पाया जायगा, इस असत्य अपवाद का आग्रही होगा, उसकी जीभ काट ली जायगी। इसी पर वासंती उद्धृत पंक्तियाँ बोल रही है। असम्भव है बहन, लोक का मुख नहीं रोका जा सकता। यह सामर्थ्य मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र में भी नहीं था। लोकनिन्दा के डर से परमपवित्र सती सीता को भी उन्हें निर्वासित करना पड़ा। वह भी तब जबकि सीता के गर्भ में रघुकुल के दो प्रदीप पल रहे थे। राजदण्ड सब कुछ कर सकता है, लोक के मुख पर ताला नहीं लगा सकता। यदि उसे दबाने का प्रयत्न भी किया गया तो वह भीतर-भीतर ही संगृहीत होता है और समुद्र-गर्भ में पड़े हुए ज्वालामुखी के समान फूट पड़ता है। जिस लक्ष्मण ने इन्द्र तक को विजित करनेवाले महा-पराक्रमी मेघनाद का वध किया था, वही लोकनिन्दा के सम्मुख नतमस्तक हो

गये—यह जानते हुए भी कि सीता के संयोग से स्वयं पवित्रता भी गौरवान्वित होती है। उन्हें ही सीता को जंगल में ले जाकर छोड़ आना पड़ा।

शब्दार्थ (पृ० ४२-४३) :—परिहास = हँसी। लाक्षा = महावर। अनुरक्त = प्रेम में विभोर। अनुराग = प्रेम। राजभवन = राजमहल।

(१३) हँसी न करो……चल रही हो। (पृ० ४३, पं० १७)

उद्धृत पंक्तियाँ मलयवती की हैं। प्रसंग यह है कि काशी-राजकुमारी वासंती ने बड़ी अनुरक्ति से शाकल के उस यवन राजकुमार की चर्चा की है, और उस वक्त तो उसकी आँखें ही भर आयीं जब कि उसे यह स्मरण हो आया कि किस प्रकार वह राजकुमार उसके लिए बीच जंगल में एक बूँद पानी तक के बिना छटपटाकर मर गया। सिर्फ उसी के लिए तो उस यवन ने जान बूझकर मृत्यु का वरण किया। वासंती सोचती है—धिक्कार है अपने आपको, जो वह स्वयं विदिशा के राजभवन में सभी प्रकार के सुखों के बीच पल रही है, और अभूतपूर्व संयम से प्रेम करनेवाला उसका प्रेमी, उसके प्रेम के नाम पर जूझता हुआ मर मिटा। काश! वह वासंती को लेकर शाकल पहुँच गया होता तो अभी तक शाकल का राजभवन उसके पैरों के महावर को चूम-चूम कर धन्य हो उठा होता। कितनी आव-भगत होती उसकी। शहनाइयों के बीच वह जगती और आशावरी के साथ सोती होती। यह सुनकर मलयवती को लगता है कि निश्चय ही वासंती उस यवन राजकुमार पर अनुरक्त थी। वासंती प्रतिवाद करती है—पहले तो नहीं थी, अब हो रही है। आखिर जीने के लिए कोई सहारा चाहिये। काल्पनिक ही सही, पर स्नेह का एक अवलंब चाहिए। मलयवती कहती है—गजब है यह सखी, आँखों में वेदना और ओठों पर परिहास लेकर चलनेवाली। कहाँ तो उस यवन राजकुमार को देखा भी नहीं, फिर अनुराग हो गया। यह जानते हुये भी कि वह मर गया, उस पर यह अनुरक्ति दिखा रही है। आश्चर्य है! कैसे सम्हाल रही है यह अपने जीवन को। कहीं ऐसा भी हो सकता है कि दुःख जितना ही गहरा हो, परिहास की मात्रा उतनी ही अधिक हो। मलयवती समझ नहीं पा रही है वासंती को। उसका जीवन का अनुभव इतना कच्चा

है और इस क्षेत्र में वह इतनी हल्की है कि वासंती के हृदय की वेदना की थाह नहीं ले सकती, ऊपर फेंक दी जाती है, और ठीक उसी तरह आँसुओं से उसकी भींगी मुस्कान की आर्द्रता को भी नहीं समझ पाती, उच्छाल दी जाती है।

शब्दार्थ (पृ० ४४-४६) :—अनृत = झूठ। अल्प-प्रसाद = जो थोड़ा अनुग्रह करे या न भी करे। महाक्रोधी = बड़ा क्रोध करनेवाला। अधार्मिक = अधर्म आचरण करनेवाला। युद्ध = संघर्ष, लड़ाई। अबला = जिसको बल न हो ऐसी स्त्री, नारी-समाज। वध = हत्या। मद्य = शराब। मूर्धाभिषिक्त = अभिषेक। गंगा = हिन्दुओं के लिए सबसे पवित्र नदी। कैलाश = हिन्दुओं के लिए सबसे पवित्र पर्वत। निर्दोष = दोषरहित। कल्पित = अपने मन ही द्वारा बनाया हुआ। सस्वर = स्वर के साथ। उच्चारण = पाठ। रुद्री = शिव स्तोत। अक्षत = चावल। कामना = इच्छा। भिक्षा = भीख। दर्पण = शीशा, ऐनक। शिविका = पालकी। सेवक = नौकर। सखा = मित्र। रक्षक = रक्षा करनेवाला। आमोद-प्रमोद = आनन्द और विलास। साधन = सामग्रियाँ। दण्ड = साधुओं के पास रहनेवाला काठ का छोटा टुकड़ा, जिस पर हाथ रख कर वे आसन पर बैठे-बैठे विश्राम करते हैं। कमण्डल = साधुओं के पास रहनेवाला काठ या किसी बड़े सूखे फल का बना जलपात्र। भरोसे = सहारे। सोलहवाँ = १६ साल। अतुल = अतुलनीय। सम्पत्ति = धन। अंतःपुर = रनवास। नूपुर = पैरों में पहने जानेवाला घुँघरूदार अलंकार। लाक्षारस = महावर। प्रांगण = आँगन। प्रस्थान = चला जाना। प्रखर = तेज। अधोवस्त्र = नीचे का वस्त्र। बनैले = जंगली। मार्जार = बिलाड़। मर्मवेधी = हृदय विदारक। क्रन्दन = रोना। भटकती = निरुद्देश्य चलना, टहलना। लीला = खेल। उपक्रम = चेष्टा। आश्विन = भादो और कातिक के बीच हिन्दू तिथि-क्रम का सातवाँ महीना। ज्वर = बुखार। आदेश = आज्ञा। टपके = धसके। मृग-चर्म = मृग का चमड़ा। मंत्रि-परिषद् = राजा के मंत्रियों की सम्मिलित गोष्ठी। कक्ष = कमरा। बालसखा = बचपन का मित्र। आसक्ति = अनुरक्ति। आकर्षक = आँख को खींच लेनेवाला। पुष्ट = तगड़ा। युवा = नवयुवक, जवान। प्रवेश = आगमन। मसें = मूछों की रेख। भीन = उभर। प्रसन्न मुद्रा =

प्रसन्न चित्त। संगति = तुक। दहकती = चिलचिलाती। प्रसिद्धि = प्रशस्त, उचित। चेष्टा = कोशिश। आदि कवि = वाल्मीकि। अक्षय = जिसका कभी भी क्षय न हो। कीर्ति = यश। सिद्धि = सफलता। उपासक = उपासना करनेवाला, पुजारी। देवत्व = देवतापन। अहंकार = घमंड।

(१४) कभी नहीं.........मयूर को दे रही हैं। (पृ० ४९-५०)

उद्धृत पंक्तियाँ काशी-राजकुमारी वासंती और सिद्ध-सरस्वती महाकवि कालिदास के वार्तालाप की हैं। वासंती ने महाकवि से अनुरोध किया है कि वे अपने काव्य में उसके बालसखा मयूर को स्थान देकर अमरत्व प्रदान कर दें। कवि ने मेघदूत में ऐसा कर भी दिया है क्योंकि मयूर की संगति मेघ से ही बैठती है। यही कवि प्रसिद्ध है। यदि वे आश्विन की इस दहकती धूप में मयूर की संगति बैठायँगे तो वह काव्योचित नहीं माना जा सकेगा। आलोचक महाकवि की सूझ-बूझ की निन्दा करेंगे। वासंती प्रसंग बदल कर कहती हैं कि अब तो आप अपने काव्य में मनुष्य को चित्रित कर रहे हैं। महाकवि ने अपने काव्यादर्श की व्याख्या करते हुए कहा कि अब तक हमारे काव्यकार मनुष्य को देवता बना कर उपस्थित करते रहे हैं। यह काम वाल्मीकि से प्रारम्भ होकर बौद्धकाल तक होता रहा। मांस-मज्जा के मनुष्य में ऐसे-ऐसे गुणों की अवतारणा की गयी कि वे देवोचित बन गये, हमारे बीच के न रह सके। बौद्ध काव्यों में यह क्रम इस ऊँचाई पर पहुँचा कि जहाँ-जहाँ ऐसे वीर-पुंगव के चरण पड़े, वहाँ-वहाँ धर्म-स्थल उठ खड़े हुए। वासंती कालिदास को भी देवता ही मानती है—अक्षयकीर्ति, सिद्धि और प्रेम के उपासक मनुष्यरूप देवता। इसी पर कालिदास ने उपर्युक्त पंक्तियाँ कही हैं। देवत्व का गौरव सबके लिए शुभ नहीं होता, कुछेक के लिए विशिष्ट परिस्थितियों में वह अमंगलसूचक भी होता है। इसीलिए वे अब देवताओं को मनुष्य बनाने का उपक्रम कर रहे हैं—इस तरह कि देवता की मनोभावनाएँ और क्रियाकलाप मनुष्यों से भिन्न न दिखाई पड़ें, मनुष्य उनमें अपने आपको देखे और तादम्य-बोध करे। कवि की धारणा है कि देवता आसमान से उतरता नहीं, हमारे ही अन्दर का पुरुष, जब लोक में अपने-आपको निमज्जित कर, अपने स्वार्थ को परमार्थ में तिरोहित कर शुद्ध विशिष्ट आचरण करने लगता

है—तभो वह देवता बन जाता है, पुरुषोत्तम कहलाता है। देवता वह पत्थर की मूर्ति नहीं है जो कहीं बाहर से लाकर मानव के मन-मन्दिर में अवस्थित की जाय; प्रत्युत वह मानव की मनोभावनाओं का वह आवर्त्त है, उर्ध्वमुखी हिलोर है जिससे देवता की काया निर्मित होती है। और खैर, इन बातों से क्या, वासंती की गोद में बैठकर इस मयूर को जो सुख मिल रहा है उसके लिए मनुष्य तो क्या, देवता भी एक बार तरस उठेंगे, लालायित होंगे।

शब्दार्थ (पृ० ५०-५१) :—आपका यक्ष = यहाँ संकेत मयूर से है। आहट = संकेत। बेचैन = व्याकुल। देवव्रत भीष्म = शान्तनु-पुत्र देवव्रत जिन्होंने अपने पिता की जीवन-रक्षा के लिए आजन्म ब्रह्मचारी रहने का व्रत लिया था। कथा यह है कि शान्तनु के पहली पत्नी गंगा से आठ पुत्र हुए। स्वयं गंगा वशिष्ठ के एक श्राप के चलते अपने पहले सात पुत्रों को नदी में बहा आयी। विवाह के ही समय उसने शान्तनु से यह वचन ले लिया था कि उसके किसी भी कार्य में वे हस्तक्षेप नहीं करेंगे। इसीलिए सात पुत्रों को नदी में बहाने के समय शान्तनु मन मसोस कर रह गये। पर जब वह अपने आठवें पुत्र को भी नदी में बहाने ले चली तब शान्तनु अधीर हो उठे। उन्होंने गंगा का हाथ पकड़ लिया। फलतः गंगा ने शान्तनु को छोड़ दिया और इस आठवें पुत्र को पूरी तरह शिक्षित कर शान्तनु को लौटा दिया। यही देवव्रत थे। एक दिन शान्तनु शिकार खेलते समय जंगल में भटक रहे थे कि सत्यवती नामक नवयुवती पर मोहित हो गये। विवाह का प्रस्ताव करने पर सत्यवती के पिता ने यह वचन चाहा कि उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके राज्य का अधिकारी देवव्रत नहीं, सत्यवती की संतान होगी। शान्तनु यह वचन न दे सके, पर बहुत बेचैन रहने लगे। जब देवव्रत को सारी बातों का पता लगा तो वे सत्यवती के पिता के यहाँ गये और यह वचन दिया कि राज्य पर वे नहीं, उनके सौतेले भाई बैठेंगे। सत्यवती के पिता ने कहा कि—माना, आप राज्य पर अधिकार नहीं करेंगे, पर यदि आपकी संतान ने भविष्य में राज्याधिकार प्राप्त कर लिया तो? इसी पर देवव्रत ने आजन्म ब्रह्मचारी रहने का व्रत ले लिया। अपनी इस भीषण प्रतीज्ञा के चलते ही वे भीष्म कहलाये। गृह-कलह = घर की लड़ाई। शान्त करने = समाप्त करने। रमणी =

कामिनी। आकर्षण = खिंचाव। वस्तु = चीज। सन्तान = वाल-बच्चे। कल्पना = विचार। रसातल = पाताल। अविवाहित = विना विवाह किये रहना। व्रत = प्रतिज्ञा। तुल बैठना = निश्चय करके बैठना। जी खोलकर = स्पष्टतः। उतावली = शीघ्रता व्यक्त करनेवाली अकुलाहट। निर्णय = निश्चय। व्यवस्था = प्रवन्ध, इन्तजाम।

(१५) देवव्रत भीष्म.........रो पड़ते हैं। (पृ० ५१, पं० १)

उद्धृत पंक्तियों में महाकवि कालिदास काशी की राजकुमारी से विदिशा के आचार्य सेनापति विक्रममित्र के वात्सल्य, करुणा, क्षमा आदि गुणों की चर्चा कर रहे हैं। कालिदास उसके मन में यह आस्था स्थापित करना चाहते हैं कि आचार्य के मन में उसके लिए अपरिमित करुणा और अतुलनीय स्नेह है। वे यह बताना चाहते हैं कि आचार्य वाहर से जितने रुक्ष, कठोर और निर्मम दिखायी पड़ते हैं, भीतर से वैसे नहीं। मन से वे मोम की तरह कोमल हैं, और भावना की हल्की-सी उष्णता से ही वे पिघलकर पानी-पानी वन जाते हैं। कवि, पहली वार आचार्य के आजन्म ब्रह्मचारी रह जाने का रहस्य भी वता रहे हैं। वस्तुतः यह प्रतिज्ञा भीष्म की प्रतिज्ञा की ही तरह भीषण है। पर वृहत्तर लक्ष्य, राष्ट्र रक्षा, सुव्यवस्थित कुटुम्ब और कलहहीन भावी जीवन के निमित्त इस महात्मा ने जीवन भर विवाह न करने का दृढ़ निश्चय कर लिया और आज तक यह जानने का भी प्रयत्न न किया कि रमणी का सौन्दर्य किसे कहते हैं, कामिनी के कपोल कितने कोमल, और मुग्धा के अधर कितने मधुर होते हैं। न जाने कितनी दृढ़ता से इस ब्रह्मचारी ने अपने हृदय की दुर्दान्त भावनाओं को मरोड़ा है, कुंठित कर दिया है, निष्क्रिय वना दिया है। कभी भी यह भाव न जागा कि संतान का सुख किसे कहते हैं, कभी भी यह इच्छा न जागी कि कोई नन्हा-सा हाथ, अपनी नन्हीं-नन्हीं उंगलियों से उनकी लम्वी-लम्वी दाढ़ियों को खींचता और इस प्रकार उनके समस्त पितृत्व को गुदगुदा देता। पर ऐसा निरीह और निर्मम व्यक्ति भी वासंती को देखकर अपनी भींगी पपनियों को अपनी फौलादी उंगलियों से पोंछ लेता है। वासंती के दुःखों की कल्पना कर यह हिमालय भी रो पड़ता है, यह वज्र भी पिघल जाता है।

शब्दार्थ (पृष्ठ ५२) :—अनादि = जिसके स्रोत का पता नहीं, शाश्वत। सदैव = हमेशा। सेवकों = अनुचरों। चन्द्रगुप्त = मौर्यकुल का संस्थापक, भारतवर्ष का प्रथम ऐतिहासिक सम्राट् जिसने विश्वविजयी सिकन्दर के अभिमानी सेनापति सेल्युकस को परास्त कर गांधार से कामरूप तक और कश्मीर से कर्णाटक तक एकच्छत्र शासन की व्यवस्था की थी। कौटिल्य = चाणक्य, प्रसिद्ध अर्थशास्त्री और सम्राट् चन्द्रगुप्त का दुर्द्धर्ष मंत्री, जिसके बराबरी का कूटनीतिज्ञ विश्व ने आज तक पैदा नहीं किया। प्रियदर्शन = जिसके दर्शन मंगलसूचक हों, अशोक की उपाधि। अशोक = सम्राट् चन्द्रगुप्त का पोता, विश्व का अकेला सम्राट् जिसने शस्त्र के बल पर नहीं, अहिंसा के बल पर साम्राज्य की स्थापना की थी। नृशंस = मनुष्यताहीन। बृहद्रथ = अंतिम मौर्य सम्राट् जिसके राज्य में यवनों ने पुनः भारत पर आक्रमण किया और जो कायरता के चलते धर्म की आड़ लेकर युद्ध करने से बचता रहा। आचार्य पुष्यमित्र = प्रथम शुंग-शासक, मौर्य सम्राट् बृहद्रथ की हत्या करनेवाले ब्राह्मण सेनापति। रेखाएँ = लकीरें। विकार = मनोभाव, ये छह प्रकार के हैं।

(१६) हमलोग कुछ.........का कुछ नहीं है। (पृ० ५२, पं० ७)

ये पंक्तियाँ कालिदास द्वारा कही गयी हैं। प्रसंग यह है कि महाकवि ने काशी की राजकुमारी वासंती को बताया है कि शकों के हाथों से अवन्ती का उद्धार कर लेने के पश्चात् आचार्य विक्रममित्र मलयकुमारी मलयवती और वासंती दोनों का कुछ-न-कुछ प्रबंध अवश्य करेंगे। वासंती प्रकारांतर से यह बताना चाहती है कि अवन्ती के उद्धार तक प्रकृति चुपचाप बैठी तो नहीं रहेगी। अवन्ती के पतन में मनुष्य का हाथ है, अवन्ती के उद्धार में भी मनुष्य का हाथ है; पर किसी भी नवयुवती के मन में उठनेवाले भाव-बुदबुदों को मरोड़ने-उमेठने, बाँधने-दबाने में मनुष्य कुछ नहीं कर सकता। बौद्धों का दंभ था कि वे प्रकृति को नियंत्रित कर लेंगे, मूँड़ मुड़ा कर मन पर भी उस्तुरा फेर देंगे, काषाय पहनकर मन को भी गेरुए में रंग देंगे। हुआ क्या, सर पर केश जमते ही रहे, मन में बिजली कड़कती ही रही और एक दिन प्रकृति ने चुपचाप काषाय को खूँटी से टाँग कर

उन्हें इतना निर्वसन कर दिया कि एक बार लज्जा भी आँखें मींच ले। अब यह कार्य वैष्णव करने जा रहे हैं। इसी पर कालिदास ने उत्तर दिया—प्रकृति कभी काषाय को खूँटी से टाँग देती है, तो कभी वहाँ से काषाय लेकर अपने हाथों पहरा भी देती है। राजकुमारी, आपने देखा होगा—प्रकृति एकरस नहीं है, रह भी नहीं सकती है। वह नित नवीना, चंचला और परिवर्तनशीला है। इसी ने नंदों को जन्म दिया, फिर उनकी लाश पर इसी ने चन्द्रगुप्त और चाणक्य को उत्पन्न किया। मौर्यकुल का वह बालारुण अशोक के राज्य काल में आते-आते अपने मध्याह्न पर इस तरह तपा कि सम्पूर्ण एशिया और यूरोप भर से अधर्म का अंधकार समाप्त हो गया। प्रकृति ने फिर करवट ली। वही मध्याह्न का सूर्य बृहद्रथ तक आते-आते शिथिल, पीला और निष्क्रिय बन गया कि आचार्य पुष्यमित्र के एक ही धक्के में अस्ताचलगामी बन गया। यह सब कार्य प्रकृति ही करा रही है, हम सभी उसी के संकेत पर नाच रहे हैं। कौन जाने, आपकी व्यवस्था के पूर्व अवन्ती का उद्धार ही प्रकृति का आग्रह हो। हम सब तो केवल साधन हैं, सिद्धि का पता भी नहीं हमें, हम यह भी नहीं जानते कि प्रकृति का साध्य क्या है।

शब्दार्थ (पृ० ५३) :—प्रासाद = महल। प्रपितामह = परदादा। महा-पराक्रमी = अमित शक्तिशाली। पराजित = हराया। खदेड़ना = रपेट मारना। स्वामिकार्तिक = शिवजी के ज्येष्ठ पुत्र और देवताओं के सर्वोच्च सेनापति। पराक्रम = तेज, शक्ति। वनैले = जंगली। रक्षकों = रक्षा करने वालों। विवेक = विचार-शक्ति। पितृभक्त = पिता का भक्त। शासन-भार = राज्य-भार। प्रेरणा = उद्भावना। आचार्य सेनापति विक्रममित्र का वंश-वृक्ष इस प्रकार है। कोष्ठक में दी गयी संख्या, शासक की क्रम-संख्या है :—

पुष्यमित्र (१)
|
अग्निमित्र (२)

(इरावती देवी)
|
वसुज्येष्ठ (३)
|
अन्ध्रक (५)
|
घोष (७)
|
भागवत (८)
|
देवभूति (९)
} (संरक्षक)

(धारिणी देवी)
|
वसुमित्र (४)
|
पुलिंद (६)
|
विक्रममित्र
(ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा थी)

(१७) यह तो नारी का मोह……छू लेता है। (पृ० ५३, पं० नीचे से ५)

महाकवि कालिदास काशी की राजकुमारी वासंती को आचार्य विक्रममित्र का वंश-वृक्ष समझा रहे हैं और उन कारणों पर प्रकाश डाल रहे हैं, जिनके चलते सेनापति को बाल ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा करनी पड़ी। आचार्य पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र की दो रानियाँ थी। पहली रानी धारिणी देवी से वीर वसुमित्र हुए जिन्होंने सोलह वर्ष की अवस्था में ही महापराक्रमी यवनों को पराजित कर सिन्धु के पार तक खदेड़ मारा था। दूसरी रानी इरावती से वसुज्येष्ठ हुए, जो इतने डरपोक और कायर थे कि वनैले जीवों के भय से कभी वन के रास्ते रक्षकों को साथ भी नहीं जाते थे। किन्तु सेनापति अग्निमित्र देवी इरावती के मोह में राज्य पर पहले उन्हीं को बैठा गये। इसी पर वासंती ने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—ऐसे कायर को तब, जबकि एक इतना वीर पुत्र भी था सिंहासन पर बैठने योग्य ? इसी पर कालिदास उत्तर देते हैं कि नारी, पुरुष की सबसे बड़ी दुर्बलता है। नारी का पहला आकर्षण ही मेधा के चक्र में कील ठोंक कर उसे चलने से रोक देता है, नारी की मुस्कान वह जादू है कि चट्टान ऐसा पुरुष भी उस पर बिछल कर अपने हाथ-पैर तोड़ लेता है। और यदि कहीं नारी का स्पर्श प्राप्त हो गया तो देखो किस तरह पुरुष का विवेक जड़ होने लगता है और

यदि उसने आलिंगन-बद्ध कर लिया तो समझो, पुरुष के सारे विवेक को ही चाट गयी। नारी अपने को लुटा कर पुरुष को लूट लेती है। इस लूट में नारी का शरीर ही लूटा जाता है, पर पुरुष का तो तन-मन-धन सब लूट लिया जाता है। पितृभक्त वसुमित्र ने चुपचाप इन अनाचार को स्वीकार कर लिया, पर वसुज्येष्ठ की मृत्यु के बाद राष्ट्र की रक्षा के निमित्त उन्हें ही राज्य-भार दिया गया। अब आचार्य विक्रममित्र तक इन दोनों सौतेले भाइयों की सन्तान भी इसी क्रम से अधिकार पाती रही है। पिता के बाद पुत्र नहीं, एक चचेरे भाई के बाद दूसरा चचेरा भाई। संयोग ऐसा कि धारिणी देवी की सन्तान में से आज तक सभी परम तेजस्वी, वीर और व्रती हुए और इरावती देवी के सन्तान में से सभी कायर, डरपोक और विलासी। देवी इरावती के रक्त का ही यह दोष माना जायगा कि उनकी सन्तान का परिधान युद्ध के नाम से ही ढीला हो जाया करता था और है। घोष के बाद राज्य परम्परानुकूल विक्रममित्र को मिलना चाहिये था, पर उन्होंने घोष के पुत्र भागवत को सिंहासन पर बिठाकर उसके नाम पर राज्य-भार सम्हाला।

शब्दार्थ (पृ० ५४-५५-५६) :—गोलोक वासी = स्वर्गवासी। राज्य-भार = राज्य करने का दायित्व। परिधान = पोशाक, धोती। पीढ़ी = पुश्त। विमाता = सौतेली मां। द्रोह = विरोध। आजीवन = जीवन भर। व्रत = प्रतिज्ञा। अथर्ववेद = एक वेद। धनुर्धर = धनुषधारी। वंशजों = वंश में उत्पन्न होनेवाले। गौरव = शान। वीरगर्भा = वीरों को ही अपने गर्भ में धारण करनेवाली। योग्य = लायक। निर्विघ्न = बिना बाधा के। पूर्वजों = बाप-दादा। अनुरूप = तरह, समान। वाचाल = मुखर, बातूनी, मुँहफट। मर्यादा = विधि-विधान का अनुशासन। मेखला = शृंखला, करधनी। अस्वीकार = नामंजूर। प्रवेश = आगमन। श्वेत = सफेद। चक्र = चक्के। कृष्ण = काला। पीला पत्ता = झरने योग्य पत्ता। विधान = कानून। पक्षपात = किसी की तरफदारी। नियम = भंग = नियम तोड़ना। दोष = अपराध। कक्ष = कमरा।

(१८) यह पीला पत्ता ... नहीं ले सकना। (पृ० ५६, पं० ७)

उद्धृत पंक्तियाँ आचार्य विक्रममित्र की हैं, और सेनापति प्रहरी पुष्कर के प्रसंग में मलयवती को विधान की मर्यादा और अनुशासन-रक्षा की समस्या को समझा रहे हैं। सेनापति कह रहे हैं कि आज सत्तासी वर्ष हो गये, मैंने अत्यन्त कठोरता से विधान और अनुशासन की रक्षा की है, अपने पूर्वजों द्वारा स्वीकृत संविधान की पंक्ति-पंक्ति का अत्यन्त बारीकी से अनुगमन करते हुए राज्य-संचालन किया है। अब जब कि किसी भी दिन इस संसार से मेरी विदाई हो सकती है, मैं उस अनुशासन का अतिक्रमण नहीं करूँगा। मैंने आजतक पक्षपात नहीं किया, आकृति देखकर नियम को तोड़ने-मरोड़ने का प्रयत्न नहीं किया, अब कैसे करूँ। यह काम मैं अपनी पुत्री के प्रेम के वश में पड़ कर भी नहीं करूँगा। तू मेरे प्राण माँग ले, जीवन माँग ले, वे मेरे हैं, मैं दे दूँगा; पर यह विधान धरोहर है जिसकी रक्षा करना मेरा प्रथम, प्रधान और पावन कर्त्तव्य है। पुष्कर ने जाने या अनजाने सेनापति के लिए 'महाराज' शब्द का प्रयोग किया है, जो विधानानुकूल नहीं, विधान का अतिक्रमण है और उसके लिए निर्धारित दण्ड उसे मिलना ही चाहिये, मिलेगा भी। तू कहती है कि उसे माफी दी जाय, यह कैसे हो सकता है? विक्रममित्र अपने प्राण दे सकते हैं, पर इस मांग की पूर्ति नहीं की जा सकती। राज्य विधान वह है जिसमें किसी के लिए दया, माया ममता की गुंजाइश नहीं, उसके अपवाद की लचक नहीं होनी चाहिये। अगर मैं तुम्हारे कथनानुसार उसे क्षमा कर दूँ तो मैं अपने आदर्श से च्युत हो जाऊँगा—अब इस उम्र में ममता के चलते यह स्खलन मैं सहन नहीं कर सकता। मुझसे यह असंभव है। इन पंक्तियों में आचार्य आर्द्र ममता और निर्मम राजदण्ड के बीच झूलते-से दिखायी पड़ते हैं, पर उनकी दृष्टि सदैव अपने उच्चादर्श पर टिकी रहती है। यही उनके चरित्र की विशेषता है, जिसे नाटककार ने अत्यन्त मनोवैज्ञानिक ढंग से स्पष्ट किया है।

शब्दार्थ (पृ० ५७) :—कृत्या = तांत्रिकों के अनुसार एक भयंकर राक्षसी जो शत्रुओं को नष्ट करनेवाली मानी गयी है और जिसकी लपलपाती लंबी जीभ बाहर निकली रहती है, दुष्टा और कर्कशा स्त्री। आशंका = डर-युक्त संदेह।

अनस्थिर = डाँवाडोल । मृत्यु = मौत । किनारे = पास । तुष्टि = संतोष ।
कामना = आकांक्षा । वाक्दान = वचनदान । वाचक = वाची, बोधक ।
सम्बोधन = पुकारना ।

(१९) कालिदास......हार जाता हूँ। (पृ० ५७, पं० ८)।

उद्धृत पंक्तियाँ आचार्य सेनापति विक्रममित्र द्वारा कालिदास से कही गयी हैं। प्रसंग यह है कि मलयकुमारी मलयवती प्रहरी पुष्कर को क्षमा करा देने पर तुली हुई है। पुष्कर ने सेनापति विक्रममित्र के लिए 'महाराज' शब्द का प्रयोग कर अनुशासन-भंग किया है, और राजदंड के भय से मलयवती का शरणागत बन गया है। मलयवती विक्रममित्र से उसी की चर्चा कर रही है कि वासंती जैसे इस चर्चा से सर्वथा विरक्ति प्रदर्शित करती हुई जाने की अनुमति चाहती है। मलयवती वासंती को झिड़कती है कि—'हाय! हाय! रुक जाओ अभी बहन। पुष्कर के प्राण के लिए कृत्या न बनो।' वासंती स्पष्ट कह देती है कि उसे किसी के प्राण की चिन्ता नहीं। उसके अन्दर भी तो प्राण है जो घुल रहा है, मुक्ति के लिए छटपटा रहा है, उसकी चिन्ता कौन करता है जो वह किसी के प्राण की चिन्ता करे। विक्रममित्र इन दोनों राजकुमारियों की बातें सुन कर कुछ उद्विग्न हो जाते हैं और कालिदास से कहते हैं कि वे इन दोनों कुमारियों को प्रासाद में ले जायँ। उनका मन किसी भावी आशंका से विचलित हो रहा है। सत्तासी वर्ष की आयु में उन्होंने इन कुमारियों से संतान-सुख की कामना की। यही अनर्थ हुआ, उन्हें मोह में बँधना पड़ा। इसीलिए विक्रममित्र निष्कर्ष निकालते हैं—संतान वह चट्टान है जहाँ जाकर बड़े-से-बड़े न्यायी की बुद्धि भी चूर-चूर हो जाती है, अनुशासन और विधान की सारी शृंखला छिन्न-भिन्न हो जाती है। यद्यपि आचार्य सेनापति विक्रममित्र की ये अपनी संतान नहीं हैं, पर उनके संरक्षण में हैं और वे उन्हें अपनी संतान के सदृश मानते हैं। वज्रहृदय पुरुष भी अपनी संतान के प्रेम में, मोह में पड़ कर मोम की तरह पिघल जाया करता है। संतान उस नस को ही पकड़ लेती है जिससे ममता और दया तथा करुणा का दूध निकल पड़ता है।

शब्दार्थ—पृ० ५८—समवयस्क = हम उम्र, एक उम्र के। परिहास = मजाक। दाम्पत्य = पुरुष-नारी, या पति -पत्नी का प्राकृतिक सम्बन्ध। बाधक = रोक। लोकतंत्र = शासन का वह विधान जिसमें बहुसंख्यक जनता की रुचि की प्रतिष्ठा हो। आधार = अवलम्ब। ज्योति = प्रकाश, रोशनी। कुबेर = यक्षराज, धनियों का देवता, सम्पत्ति का अधिष्ठाता। निष्कासन = देश निकाला, निर्वासन। असावधानी = निश्चेष्टता। युद्ध = लड़ाई।

(२०) दाम्पत्य मर्यादा में.......यही आधार है। (पृ० ५८, पं० १४)।

यह पंक्ति आचार्य विक्रममित्र द्वारा तब कही गयी है जब पुष्कर के दोष के कारणों पर प्रकाश डालते हुए कालिदास ने यह बताया कि न लोमश इस दशा में उपस्थित होता और न पुष्कर से यह अपराध होता। लोमश के शरीर पर हल्दी लगी हुई थी, हाल ही में उसका विवाह हुआ था। इसी प्रसंग में प्रहरियों में हास-परिहास चल रहा था। हल्दी लगाने की बात सुनकर आचार्य विक्रममित्र ने कहा—तब तो इसे अभी घर में अपनी पत्नी के साथ रहना चाहिये था। क्योंकि पारिवारिक शांति की आधारशिला तो सुखद दाम्पत्य है ही, साथ-ही-साथ वह सबल लोकतंत्र का मेरुदंड भी है। सुखद दाम्पत्य से राष्ट्र की रक्षा और समृद्धि के लिए सबल, सशक्त और सुयोग्य संतान की प्राप्ति होती है। समाज के वर्त्तमान के आधार और भविष्य के कर्णधार ये ही संतान हैं और संतानोत्पत्ति के बिना दाम्पत्य प्रेम संभव नहीं। दाम्पत्य-जीवन का सबसे बड़ा कर्त्तव्य है सुयोग्य पुत्र की उत्पत्ति। कौन कह सकता है कि लोमश के दाम्पत्य-जीवन से ही राष्ट्र को कोई नया चंद्रगुप्त, कोई नया कौटिल्य और कोई नया कालिदास न मिल जाय। इसीलिए आचार्य लोमश को घर जाने को कहते हैं। दूसरी ओर असफल दाम्पत्य समाज में भ्रष्टाचार और अनाचार फैला कर वर्णशंकरों को जन्म देता है, जिससे अनीति फैलती है, अनुशासन-भंग होता है। इसीलिए दाम्पत्य जीवन को सुखद बनाना, व्यक्ति का पहला और प्रमुख कर्त्तव्य है।

शब्दार्थ—पृ० ५९-६२—वचन देना = प्रतिज्ञा करना। जनरव = कोलाहल। कोलाहल = हल्लागुल्ला। सन्ध्या = शाम। सन्तान = बाल-बच्चे। आधार = अवलम्ब। तेजस्वी = रोबदार। अनुचर = सेवक। महामंत्री = प्रधानमंत्री।

सूचना = संवाद, खबर। प्रताप = तेज। कुशल = भला। साकेत = अयोध्या, अवध। क्षत्रप = शक शासक। मार्ग = रास्ता। यवन = ग्रीक। श्रेष्ठी = सेठ। पृथ्वी = धरती। त्राहि = रक्षा करो। भद्र = बौद्धों के लिए आदर सूचक शब्द। संकट = कष्ट। शोक = दुःख। अपहरण = उड़ा ले जाना। विवाह-मंडप = फूस का बना मड़वा जिसके नीचे पाणिग्रहण संपन्न होता है। कुमार सेनानी देवभूति = अग्निमित्र की छोटी रानी की वंश-परंपरा का अंतिम दीपक, जो भागवत का पुत्र था। कन्या = कुमारी लड़की। अतिथिशाला = मेहमानों के लिए निवास-स्थान। निर्णय = फैसला। संतोष = तसल्ली। प्रस्थान = रवाना। कुल-कलंक = कुल का कलंक। उपस्थित = हाजिर। राजबंदियों = राजनैतिक कार्यों के चलते जिन्हें बंदी बनाया गया हो। मुक्तकर = छुड़ाकर। संदेश = खबर। रक्तपात = खून-खराबी। आवश्यकता = जरूरत। तीव्रतर = अधिक तेज। आचारण = व्यवहार। मूर्धाभिषिक्त = सिर के ऊपर से जो स्नान किये हुए हो।

दूसरा अंक

शब्दार्थ—पृ० ६३-६४—सुरुचि = मनपसंद। नीति = जो अश्लील और बेढंगा न हो। बाघम्बर = बाघ का उतारा हुआ चमड़ा। देव-चित्र = देवताओं के चित्र। सुरंग = सुन्दर रंग के। प्रशस्त = फैले हुए बड़े चौड़े। संयोग = मिलावट। चित्रित = चित्रों में दिखाना। सप्तर्षि-मंडल = सत भैया तारे। ध्रुव = उत्तर दिशा का एक तारा जिसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह एकमात्र स्थिर तारा है। आकृतियाँ = चेहरे। कलापूर्ण = कला से भरा हुआ। अवस्था-भेद = उम्र का अन्तर। स्फटिक = संगमर्मर। रत्न-जटित = रत्नों से जड़ा हुआ। छत्र = छाता। परिणत = बदल जाना। स्वर्ण पट्टी = सोने का साइनबोर्ड। राज-उद्यान = राजा की फुलवारी। गुल्म = झुंड, झाड़ी। दीपित = चमकना। अन्तःपुर = रनिवास। ध्वनि = आवाज। ललाट = माथा। गंभीर = बोझिल। सैनिक-वेश में = गण के वेश में। सशस्त्र = शस्त्र के साथ। प्रयोजन = अर्थ, मतलब। अवस्था = हालत। पितामह = बाबा। फूत्कार = फुँफकारना। आकर्षित करना = खींचना। तक्षशिला = पेशावर के पास एक स्थान। पहले यह गांधार-राज्य का

अंग था और यहाँ विश्व-विश्रुत विश्वविद्यालय था। अब भी उसके खंडहर वहाँ हैं।

(२१) जानते हो तुम···आकर्षित नहीं करती। (पृ० ६४, पं० नीचे से ८)।

ये पंक्तियाँ 'गरुड़ध्वज' के दूसरे अंक से ली गयी हैं, और इनमें सेनापति विक्रममित्र अपने कई गुणों पर एक साथ प्रकाश डाल रहे हैं। सेनापति वसुमित्र द्वारा बनाये गये राज-सिंहासन के पास नीचे मृगचर्म बिछा कर बैठे हैं और ललाट पर गंभीर चिन्ता की लकीरें दिखायी पड़ती हैं। उनके मन में पहले से ही किसी अनिष्ट की आशंका है। उनके वंश का अंतिम दीपक—कुमार सेनानी देवभूति विवाहमंडप से एक यवनकुमारी को उठा कर ले भागा है और काशिराज के यहाँ छिपा बैठा है। उसको सीख देने के लिए राजवंदियों की सेना लेकर कवि कालिदास और महामंत्री वासुदेव भेजे गये हैं। सेनापति को स्वयं अवंती जाकर शकों पर हमला बोलना है। इसी परिस्थिति में तक्षशिला के यवन-सम्राट अन्तिलकि का राजदूत हलोदर के आगमन की सूचना सशस्त्र सैनिक मान्धाता देता है। इसी पर सेनापति की यह उक्ति है। वे युद्धभूमि का मानचित्र निकालकर उसका अध्ययन कर रहे हैं और युद्ध सम्बन्धी, मोर्चा-सम्बन्धी गुत्थियों को सुलझा रहे हैं। उनका दृढ़ विश्वास है कि संकट के समय इस सिंहासन के नीचे से प्रसिद्ध धुनर्धर पितामह वसुमित्र का आदेश मिल जाता है जिन्होंने यवनों को १६ वर्ष की अवस्था में ही सिंधु-पार तक खदेड़ मारा था। आज फिर वैसा ही संकट आ गया है और इसीलिए सेनापति आदेश पाने के लिए सिंहासन के पास मृगचर्म बिछाकर विनीत भाव से बैठे हैं। इस अवस्था में वे इतने ध्यान मग्न बैठे हैं कि मनुष्य की पग-चाप तो क्या सर्प का फूत्कार भी उन्हें विचलित नहीं कर सकता। मान्धाता ने राजदूत के आगमन की सूचना देकर उनके ध्यान को भंग किया है। राजनीति का तकाजा है, राजदूत से मिलना अत्यावश्यक है। लोकनीति के लिए उससे परामर्श अनिवार्य है, राजनीति के लिए उससे भेंट करना आवश्यक है। इसीलिए युद्ध मंत्रणा-गृह में भी यह संवाद उन्हें मिलता है, और वहाँ ही उससे उन्हें मिलना पड़ता है। फिर यह राजदूत जाति से यवन पर धर्म से वैष्णव सम्राट का अत्यन्त प्रिय राजदूत है।

शब्दार्थ—पृ० ६५-६८—आनन्द-विभोर = हर्ष में मग्न। पादार्घ्य = भोजनादि। चेष्टाएँ = मुद्राएँ। मद्यप = शराबी। द्राक्षारस = शराब। संयत = नियंत्रित। विरुद्ध = विपरीत। आग्रह = जोर देकर कहना। सहर्ष = हर्ष के हाथ। नियमित = रोज नियम से। परिचय-पत्र = राजदूत अपने सम्राट् के यहाँ से जो प्रत्र लेकर आता है। करवट = उलट-फेर। व्याकरण = वह शास्त्र जो शब्द और उसके उच्चारण की मीमांसा करे। पाठशाला = स्कूल। सूत्र = सिद्धांत। लोक-कल्याण = जनहित। आतंक = प्रभाव। दस्यु = डाकू। यमराज = काल। नाक के निकट = एकदम पास। निश्चिन्त = चिन्ता-रहित। खेद = शोक। रोमांच = कंटकित होना। गद्‌गद् = प्रफुल्लित। अनुमान = अन्दाज। वत्स = छोटों के लिए संबोधन। हीन = कम। राष्ट्र = देश। कोरे = सिर्फ। शास्त्र-रक्षित = शास्त्रों से सुरक्षित, वीर। शास्त्र-कौशल = हथियार चलाने की कला। पराजित = हारा हुआ। कोटि = दर्जा। अज्ञान = मूर्खता। विडम्बना = ढकोसला, पाखंड। सम्मान = प्रतिष्ठा। लोकरंजन = जनता का अनुरंजन। लोक-कल्याण = जनता की भलाई। तुच्छ = नाचीज। उन्मत्त = पागल। उन्माद = पागलपन। पतंजलि = महावैयाकरण।

(२२) कवि कालिदास……पर छा जाता है। (पृ० ६८, पं० २)

आचार्य विक्रममित्र और विदिशा के प्रधान रक्षक मान्धाता के बीच वार्तालाप के क्रम में सेनापति विक्रममित्र द्वारा ये पंक्तियाँ कही गयी हैं। मान्धाता सैनिक है, वीर है, शस्त्रजीवी है। उसके मन में मलाल है कि वह कालिदास के काव्य की खूबी को उस तरह क्यों नहीं समझ पाता, जिस तरह आचार्य समझ लेते हैं। काव्य सुनते ही आचार्य भाव-गद्‌गद् होकर कंटकित हो जाते हैं और उनकी पुलक आँखों में तैरने लगती है। और एक है मान्धाता। आतिन्तिक के राजदूत के नाम का भी ठीक से उच्चारण नहीं कर सकता। वह बचपन से ही इस क्षेत्र में बोदा रहा। व्याकरण के सूत्रों का ठीक उच्चारण न करने के कारण वह पाठशाला से निकाल दिया गया था। वह सोचता है—शस्त्रजीवी होना कोई बड़ी बात नहीं, वस्तुतः शास्त्र ही सब कुछ है। कहा भी गया है—साहित्य-संगीत-कला-विहीन पुरुष, बिना सींग और पूँछ का पशु है। मनुष्य योनि में जन्म लेने की सार्थकता

तो तब है—जब वह काव्य का आनन्द समझे, ब्रह्मानंद-सहोदर को हृदयंगम कर सकने का सामर्थ्य रखे। यदि यह नहीं तो मनुष्य होना ही व्यर्थ। आचार्य विक्रममित्र मान्धाता की इन्हीं भावनाओं का निराकरण करते हुए कहते हैं कि यह मान्यता निराधार है, यह धारणा अनर्गल है। शस्त्र और शास्त्र—दोनों ही विद्याएँ हैं और विद्याओं में कौन बड़ी और कौन छोटी ?—'को बड़ छोट कहत अपराधू'। विद्याएँ सभी समान हैं। प्रश्न है समयानुकूल उपयोगिता का। जब राष्ट्र पर संकट के बादल घिरे हों, आक्रमणकारी उसे घेरे खड़े हों—तब हजार पाणिनि, लाख पंतजलि और करोड़ों कालिदास किस काम के ? उस समय तो मान्धाताओं की ही जरूरत होगी जो गाजर-मूली की तरह उन आक्रमणकारियों को काटे, बिजली की तरह कौंधकर उन बादलों को फाड़ दे। हाँ शांति के समय पाणिनि, पतंजलि और कालिदास का महत्त्व है, पर इससे मान्धाताओं का महत्त्व तो नहीं घटता। राष्ट्र के शरीर की सबलता का द्योतक शस्त्र है, उसकी आत्मा की महानता का द्योतक साहित्य और उसकी मेधा की ऊँचाई का द्योतक दर्शन। पर ये सारी चीजें शस्त्र पर आश्रित हैं। शस्त्र-रक्षित-राष्ट्र में ही शास्त्र-चर्चा सम्भव है। शास्त्र के लिए शांति और अवकाश चाहिए—और ये चीजें उसे शस्त्र से ही प्राप्त होती हैं। मनुष्य ने इसीलिए सर्वप्रथम आविष्कार शस्त्र का किया क्योंकि उसी की आवश्यकता उसे सबसे पहले महसूस हुई। शास्त्र का जन्म बाद में हुआ। कालिदास को ही देखो, युद्धों का वर्णन वे तुम्हारी ही वीरता के आधार पर तो करते हैं। यह अनुभव उन्हें तुमसे ही तो प्राप्त हुआ। जो पराजित जाति शस्त्र को छोड़कर शास्त्र के फेर में पड़ती है, वह अज्ञान और विडंबना से ग्रस्त होती है। शास्त्र को दीप्ति शस्त्र से प्राप्त होती है। इसीलिए पराजित जाति का शास्त्र दीप्तिहीन, कोढ़ से ग्रस्त होता है। उसमें एक हीन भावना पायी जाती है। तुम कवि के सामने हीनभाव महसूस करते हो पर कवि तुम्हें देखकर दीप्त हो जाता है, तुम्हारे प्रति श्रद्धावनत होता है।

शब्दार्थ (पृ० ६६-७०) :—आँखें झँपना = गंभीर चिन्तन की मुद्रा या निद्रितावस्था। सिर टेकता = माथा झुकाना। भय = डर। विस्मय = आश्चर्य।

नूपुर = बिछिया। मुद्रा = चेष्टा। मंत्रणा = विचार-विमर्श परिषद् = गोष्ठी। होनी = भवितव्यता। अधीर = व्यग्र। अर्थ = मतलब।

(२३) मैं कहीं भी……टली है - (पृ० ७०, पं० ८)

ये पंक्तियाँ 'गरुड़ध्वज' के द्वितीय अंक से ली गयी हैं और इनमें आचार्य विक्रममित्र अपने चरित्र का एक दूसरा पहलू मलयवती के सम्मुख स्पष्ट कर रहे हैं। सेनापति मंत्रणागृह में पितामह वसुमित्र के सिंहासन के पास मृर्ग चर्म बिछाकर बैठे हैं। देश पर संकट है और कुमार देवभूति ने भवन श्रेष्ठी की कन्या का अपहरण कर शुंग-वंश के ललाट पर कलंक का टीका लगा दिया है। इस कार्य में उसे काशी के बौद्ध राजा की सहायता मिली है, जिसकी बेटी वासंती इसी राजमहल में पल रही है। सेनापति ने कालिदास के नेतृत्व में उत्तर देने के लिए सेना भेज दी है और वे इस सिंहासन के पास बैठे हैं क्योंकि संकट के समय उन्हें इसी सिंहासन से आदेश प्राप्त होते हैं। एकदम एकांत में, भावावेश में वे उस सिंहासन के सम्मुख माथा टेकते हैं कि अंतःपुर की ओर से मलयकुमारी मंत्रणा-गृह में प्रविष्ट होती है, और आचार्य को उस दशा में देखकर भय और विस्मय से पीछे हट जाती है। इसी बीच सेनापति का ध्यान-भंग होता है और वे पूछ बैठते हैं—किधर चली ? मलयवती हकलाकर यह उत्तर देती है कि उसे एकदम पता नहीं था कि आचार्य इस समय वहाँ इस दशा में पड़े होंगे, और उसने अपनी मुद्राओं से यह स्पष्ट किया कि जैसे वह डर गयी हो और उसे अभी वहाँ नहीं आना चाहिये था। विक्रममित्र कहते हैं—वे बाघ नहीं हैं कि उनसे इस प्रकार डरा जाय। मलयवती के आ जाने से कुछ हुआ गया नहीं, क्योंकि विक्रममित्र का जीवन एक खुली पुस्तक है, वहाँ कुछ गोपनीय नहीं, कुछ छिपाने योग्य नहीं। जिसका सारा जीवन लोक-हित के लिए उत्सर्ग है, उसके जीवन का एक भी क्षण ऐसा नहीं जो लोक की आँखों से ओझल हो। क्योंकि राजनीति बड़ी पेंचीदी है, प्रजा और धर्म की रक्षा के लिए कुछ कार्य कुछ दिनों के लिए छिपाने पड़ते हैं—इसीलिए आवश्यकता वश कुछ छिपाने की जरूरत पड़ जाती है। अन्यथा, आचार्य का जीवन दुराव-छिपाव का जीवन नहीं। सब-कुछ खुला हुआ है वहाँ। यही चिन्ता उन्हें एकांत में, जगत से दूर ले जाती है—नहीं तो वे

सब के सामने खुले आसमान के नीचे साँपों के बिल पर भी सो सकते हैं। नाटककार ने विक्रममित्र के मुख से भावी साम्राज्ञी के सम्मुख शासक के कर्त्तव्यों और आचरणों पर ये पंक्तियाँ कहलायी हैं।

शब्दार्थ (पृ० ७१-७३) :—आत्महत्या = जानबूझ कर अपने हाथों हत्या। विष = जहर। अशंका = संदेह। विस्मय = आश्चर्य। व्यवस्था = प्रबंध। अवसर = मौका। प्रस्तुत = वर्त्तमान। क्षण = पल। क्षपणक = बौद्धों का एक संप्रदाय-विशेष जो 'सर्व' क्षणिकं' के सिद्धांत के अनुसार अपने जीवन का भी अत्यन्त सरलता से अंतकर देता है—जापान में हाराकिरी के ढंग की चीज। सरल = आसान। आभास = अंदाज, झाँकी। पार्वती = शिव की पत्नी। निस्संकोच = बिना हिचक के। आचरण = व्यवहार। पहरा = रक्षक। असंभव = जो संभव नहीं हो। रक्षक = हिफाजत करनेवाले। लताकुंज = लताओं का ही बना हुआ कुंज। आदेश = आज्ञा। प्रतिबंध = रोक। सर्वत्र = सभी जगह। आज्ञा = हुक्म। दरिद्र = गरीब। निर्बल = कमजोर। चरण = पैर। अपमान = निरादर। शक्ति = बल। सूर्य = सूरज। चित्त = मन। विषधर = जहरीला। आचरण = व्यवहार। चेष्टा = मुद्रा। लोलुप = कामी। यक्ष = यहाँ पर मोर, कालिदास वासंती के मयूर को उसका यक्ष कहते हैं।

(२४) मान्धाता रक्षक······मेरा साहस यह क्या होगा। (पृ० ७३, पं० १)

यह पंक्ति गरुड़ध्वज के द्वितीय अंक में वासंती से मान्धता द्वारा कही गयी है। वासंती आत्महत्या करना चाहती है, पर आचार्य विक्रममित्र की तीक्ष्ण दृष्टि से उसकी यह बिगड़ी हुई मनोदशा छिपी नहीं रह सकी। वह जहाँ कहीं भी जाती है, उस पर रक्षक तैनात रहते हैं, और उसे आगाह करते रहते हैं। अभी कुछ देर पहले वह गाती-गाती रोने लगी है, लोगों को धोखा देने के लिए रोती-रोती हँस देती है। एकांत पाकर वह लताकुंज की ओर अपने मयूर के साथ जाती है कि मान्धाता टपक पड़ते हैं। वह उधर जाने से वासंती को रोकते हैं। वासंती खीझ उठती है—जहाँ कहीं भी वह जाती है, सब ओर उसे आदेश देनेवाले निकल

पड़ते हैं—इस जीने से तो मर जाना अच्छा, जहाँ पग-पग पर प्रतिबंध है। उसे लगता है कि मान्धाता उसे रोक कर अपमानित कर रहे हैं। इसी पर मान्धाता ने यह उत्तर दिया। उसके मुख से यह निकल रहा था कि वह रक्षक है राजकुमारी का, कि राजकुमारी शब्द पर रुक कर उसने अपनी वाणी मोड़ ली—इस विदिशा नगरी का। वह सेवक है—इस महानगरी के दुर्बलतम, दरिद्रतम व्यक्ति का भी। उन्हें भी अधिकार प्राप्त है कि वे मान्धाता की जब चाहें, जिस समय चाहें, जिस प्रकार की चाहें—सेवा प्राप्त करें। वासंती तो राजकुमारी है, और वह भी अतिथि स्वरूपा। राजकुमारी का अपमान करने का साहस तो प्रकृति में भी नहीं, इस वायु और सूर्य में भी नहीं। भला मान्धाता ऐसा सेवक किस खेत की मूली है। मान्धाता अपने कर्त्तव्य का निर्वाह करते हुए भी अपनी वाक्‌चातुरी से वासंती को कष्ट नहीं पहुँचाता, उल्टे उसे प्रफुल्लित कर देता है। (तुलना करें आज के एस० पी० और कलक्टरों की भाषा से, आदर्श से)।

(२५) सर्प का भय······लोलुप होते हैं। (पृ० ७३, पं० नीचे से ३)

इस उद्धरण में विदिशा महानगरी के रक्षक और काशी की राजकुमारी के बीच की बातचीत है। मान्धाता ने अपने वाक्-चातुर्य से वासंती को मूक प्रसन्न और संतुष्ट कर दिया है, तथापि कुमारी वासंती लताकुंज में जाने को कटिबद्ध हैं। मान्धाता ने बताया उस लताकुंज में अभी विषधर सर्प गया है। वासंती कहती है—उसके मयूर का भोजन है वह सर्प। मान्धाता रोकना चाहता है, पर अब वह क्या करे। उसने सोच-समझ कर उत्तर दिया—मनुष्य पशु-पक्षी के स्वभाव पर राजकुमारी की रक्षा का भार नहीं छोड़ सकता। वासंती खीझ कर उत्तर देती है कि मान्धाता चले जायँ, वह एकांत चाहती है। मान्धाता ने दूसरा तर्क दिया—तक्षशिला के यवन राजदूत हलोदर अभी इसी रास्ते आचार्य विक्रममित्र के दर्शन के लिए जानेवाले हैं। आपके पास आपका यक्ष है, इसलिए आपको सर्प का भय नहीं, किन्तु विदेशी राजदूत की जीवन-रक्षा तो होनी ही चाहिये। साथ-साथ, मान्धाता अत्यन्त विनीत भाव से कहता है—राजदूत के साथ और भी विदेशी यवन होंगे। विदेशी यवन, आचरण में भ्रष्ट और चेष्टाओं में कुत्सित होते हैं। इसलिए अच्छा यह होगा कि राजकुमारी उनकी राह से हट जायँ।

राजदूत अवध्य होता है और राजकुमारी सम्मानीया हैं। कोई ऐसा अवसर ही नहीं दिया जाना चाहिये कि वे देवी के साथ कोई अशिष्ट चेष्टा कर बैठें।

शब्दार्थ—पृ० ७४—७६—दुर्गुण = बुराई। जातीय श्रेष्ठता = सामूहिक जातिगत श्रेष्ठ-भावना, यह भावना कि हमारी जाति दूसरी जातियों से उत्तम और श्रेष्ठ है। शिवि-ककेंटिक = पंजाब-राजस्थान-सीमा पर की लड़ाकू जातियाँ। अंतर्वेद = दोआव। सालव = अवन्ती के निवासी, आज के मालवी। यौधेय = सतलज किनारे की जाति। राजन्य = मथुरा के निकट की जाति। भिगत, कुलिन्द, वृष्णि, आर्जुनायन ये सभी उस समय की जातियाँ थीं, जो अंतर्वेद के पश्चिमी छोर पर निवास करती थीं। सातवाहन = आंध्र-निवासी। गर्द्दभिल = कलिंग के निवासी। पटु = होशियार। मनोरथ = इच्छाएँ। सेमर = सेमल, जिसकी रुई फल के फट जाने पर हवा के साथ उड़ जाती है। संयत = सभ्य और संभ्रान्त। कलंक = दोष। अपकार = दोष। उत्तेजना = भावावेश, जोश। रक्त = खून। साहसिक = निडर। आचरण = व्यवहार। मुक्ति = छूट। जघन्य = घृणित। सम्मान = प्रतिष्ठा। रोष = क्रोध। गौरव = शान। परम्परा = जो चीज पहले से चली आ रही हो। मर्यादा = अनुशासन। ग्लानि = पछतावा, लज्जा। उद्धत = निरंकुश, बेपरवाह। भार्या = पत्नी।

(२६) किसी दिन जान जाओगी······उद्धत यवन की भार्या बने।

पृ० ७६, पं० नीचे से १०—

ये पंक्तियाँ आचार्य सेनापति विक्रममित्र द्वारा उस समय कही गयी हैं जब कि वांसती पूरे आवेश में उनके सामने अपने मन की ग्रंथियों को खोल देती है। उसने आचार्य पर बड़े गहरे व्यंग्य किये हैं। मलयवती द्वारा यह संवाद सुनकर कि सेनापति उसे बुला रहे हैं, वासंती भभक उठती है और आज पहली बार उसने रोष में आचार्य को इतने रूखे स्वर में संबोधित किया है—'क्या आज्ञा है सेनापति ?'' विक्रममित्र द्वारा हल्का खोंचा मारने के साथ ही कि वह भी उन्हें सेनापति कह रही है, वासंती बरस पड़ती है—न जाने कितनी जातियों का नाम लेकर वह कहती है कि (आपके पूर्वजों ने अंतर्वेद की रक्षा के लिए, चौकसी करने के लिए इन लड़ाकू जातियों का निर्माण किया) सभी आपको सेनापति कहकर

ही पुकारते हैं—चाहे वे सतलज के चौधेय हों या कलिंग के गर्दभिल—सभी जगह आप इसी नाम से संबोधित किये जाते हैं। इसके पूर्व ही वीरवर मान्धाता से उसकी एक झड़प हो चुकी है, सिर्फ इस बात को लेकर कि यवन लोलुप और लम्पट हैं। वह समझती है कि भारतवर्ष के ब्राह्मण का यह समझना कि दुनिया भर के सारे गुण उनमें हैं और किसी दूसरी जाति में सब दुर्गुण ही दुर्गुण हैं—गलत है। यहाँ भी आचार्य विक्रममित्र से वह उसी उत्तेजना में उत्तर-प्रत्युत्तर कर रही है कि सेनापति ने बताया कि वे काशीराज से घृणा नहीं करते, उन्होंने वासंती का अपहरण किसी बुरे उद्देश्य से नहीं किया। वास्तव में बात यह थी कि काशिराज जातीय गौरव और देश की परम्परा के विरुद्ध आचरण कर रहे थे। इसी जातीय गौरव और मर्यादा की रक्षा के लिए उन्हें वासंती का अपहरण करना पड़ा। आज पहली बार वासंती के सामने यह रहस्योद्‌घाटन हो रहा है कि द्वेषवश काशिराज अपनी पुत्री का विवाह पचास वर्ष के यवन से कर रहे थे, वह भी सिर्फ इसलिए कि उनका भावी जामाता बौद्ध है और उनके गुरुभाई का पुत्र है। विक्रममित्र कहते हैं—यह वासंती का अपहरण नहीं, उद्धार था, काशिराज के प्रति घृणा नहीं, उन्हें होश में लाने की औषधि थी कि वे सोचें, जातीय गौरव क्या है, और उसकी रक्षा के लिए तलहथी पर प्राण लेकर चलना पड़ता है। वह यवन यदि बीस वर्ष का भी रहता तो भी इस सम्मान की रक्षा के लिए सेनापति वही करते जो वे कर चुके थे। वे यह सहन नहीं कर सकते कि एक आर्यकुमारी किसी उद्धत यवन से व्याही जाय। विक्रममित्र ने समझाया कि उनके बाद के आचरण ही इसकी साक्षी है कि उनका हृदय इस दिशा में भी बड़ा पवित्र और लक्ष्य बड़ा ऊँचा रहा है।

शब्दार्थ—पृ० ७७-७८—आयोजन = उत्सव, कार्य। ज्ञात = मालूम। आततायी = अत्याचारी। सम्मान = प्रतिष्ठा। आर्यावर्त्त = उत्तरी भारतवर्ष। राज्यलक्ष्मी = राज्य श्री। विचारक = चिन्तक, ज्ञानी। दीक्षागुरु = वह गुरु जो मंत्र दे। क्षपणक = बौद्ध। थेर = बौद्धों का संप्रदाय विशेष। विधान = धर्म, कायदा-कानून। पद्धति = तरीका। तथागत = बुद्ध। अनुयायी = अनुगमन करनेवाले। निमन्त्रण करना = बुलाना। पददलित = पैरों से रौंदा

हुआ। बृहद्रथ = अंतिम मौर्य-बौद्ध सम्राट्। सहयोगी = सहायक। दत्तमित्र = यवन शासक। कलंकिनी = अपराधिनी। अश्व = घोड़ा। पातक = पाप।

(२७) मैं आततायी नहीं हूँ……केश विदेशी काट लें।

(पृ० ७७, पं० १४)

इन पंक्तियों में आचार्य विक्रममित्र वासंती के आरोपों का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि उन्होंने किसी दूषित मनोवृत्ति से काशिराज का अपमान नहीं किया और न वासंती के अपहरण का कारण वे बने। जातीय गौरव और राष्ट्र सम्मान की रक्षा के लिए उन्हें विवश होकर ये कदम उठाने पड़े। क्या एक यवन के साथ वासंती का विवाह कर देने से काशिराज के सम्मान और प्रतिष्ठा को क्षति नहीं पहुँचती ? क्या भारत का साधारण नागरिक भी इस घटना से ग्लानिवश अपना सर नीचा नहीं कर लेता ? यह दुर्भाग्य ही कहा जायगा कि काशिराज अपने सम्मान की रक्षा को अपना अपमान समझें और वासंती अपने उद्धार को अपहरण की संज्ञा दे। विक्रममित्र का हृदय भर आता है और कहते हैं कि वासंती, तुम जो समझो, पर मेरा अन्तःकरण शुद्ध रहा है और है। मैं अत्याचारी नहीं हूँ, मैंने जो किया, अपनी समझ से अच्छा सोचकर किया और उस किये हुए कार्य के लिए आज भी मेरा मन अपने आप को नहीं कोसता, प्रत्युत गौरवान्वित अनुभव करता है। मैं तुम्हारे पिता के सम्मान को सम्पूर्ण राष्ट्र का, जाति का, अपने आप का सम्मान समझता रहा, और समझता हूँ और मैं अपने प्राण देकर भी अन्त तक उस सम्मान की रक्षा करता रहूँगा। यह विडंबना ही तो है कि तुम्हारे पिता बौद्ध होने के चलते जातीय गौरव को पददलित करने पर तुल गये थे। बौद्ध होने का अर्थ तो यह नहीं है कि हम अपने राष्ट्र को किसी दूसरे बौद्ध द्वारा पददलित होने दें, अपने जातीय गौरव को अपने ही सामने रौंदते हुए देखें और मन में यह संतोष कर लें कि खैर, रौंदनेवाले चरण किसी बौद्ध ही के तो हैं। हम अपने सामने ही अपनी भारतमाता के देश को निर्ममता से कटते देखें, और यह कह कर हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहें कि कर्त्तरी तो आखिर किसी बौद्ध ही की है। ना वासंती, ना……अभी यह देश चिन्तकों और वीरों से विहीन नहीं बन गया है, अभी इस देश के विचारकों की मेधा कुंठित नहीं बन

गयी है, इसके वीरों को तलवार में जंग नहीं लग गया है—अभी इस देश में ऐसे लोग हैं जो समझते हैं—'गर्दन इज्जत पर लिये-दिये, तब स्वाद यहाँ जीने का है।

(२८) **कैसी कलंकिनी रे.........मैं काट लूँगा।** (पृ० ७८, पं० १२)

इन पंक्तियों में आचार्य विक्रममित्र वासंती के उस प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं जिसमें उसने पूछा था कि आचार्य उसे कलंकिनी नहीं मानते न? वासंती के मन में इस अपवाद से ग्रंथियाँ बन गयी हैं कि उसका विवाह एक यवन राजकुमार से हो चुका है, वह पवित्र नहीं रही है, उससे कोई दूसरा व्यक्ति अब विवाह करने को तैयार नहीं है। वासंती यही सोच कर आत्महत्या करने को तुल गयी थी कि कैसे काटेगी वह अपनी सारी जिन्दगी—इस काल्पनिक और असत्य ग्लानि की आग में तिल-तिल जलती हुई। इसीलिए उसके दृष्टिकोण से आचार्य विक्रमकित्र ने उसके पिता को अपमानित कर तथा उसका अपहरण कर एक जघन्य कार्य किया था—जिसका प्रायश्चित उसे और उसके पिता को ही जीवन भर तड़प-तड़प कर करना पड़ेगा। पर आज, विक्रममित्र ने वास्तविक बातों का पता देकर उसकी आँखों पर की पट्टी हटा दी है। इन ग्रंथियों के खुल जाने से वासंती का मन प्रफुल्लित हो उठता है और वह आवेश में पूछ बैठती है—तब तो वह कलंकिनी नहीं है न? विक्रममित्र स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि वे जानते हैं—वासंती ने अपने तथाकथित पति को कभी देखा तक नहीं। फिर भी जो व्यक्ति वासंती के सम्बन्ध में किसी कलंक की कल्पना तक करेगा, वह अधर्म करेगा और जिस किसी को इसका संदेह तक होगा—उसकी जीभ काट ली जायगी।

शब्दार्थ (पृ० ७९):—स्वतंत्र = मुक्त। प्रहरी = पहरेदार। नियुक्त = मुकर्रर। शुभ = भला। मन:स्थिति = मनोभाव, मन की अवस्था। अनायास = बिना प्रयास। निष्ठा = श्रद्धा, विश्वास। साँस रुकना = भय लगना।

(२९) **गंगा की पवित्रता में कोई.........अनायास आ जायगा।** (पृ० ७९, पं० १५)

उद्धृत पंक्तियों में आचार्य सेनापति विक्रममित्र वासंती के मन की रही-सही ग्रंथि को भी एक झटके के साथ खोल रहे हैं, उसके मन की बची-खुची मलिनता

को भी अंतिम रूप से साफ कर रहे हैं। वासंती को अब अपने जीवन के प्रति आस्था जम रही है, अब वह अपने तथाकथित मलिन जीवन को समाप्त नहीं करेगी। वह एक संभ्रान्त कुल की कुमारी कन्या का गौरव पाकर भारत के उच्च-से-उच्च कुल के आँगन को अपने नन्हें-नन्हें पैरों के महावर से रंगेगी, किसी भी राजकुमार को कक्ष के अपने नूपुरों के स्वर से निनादित करेगी। विक्रममित्र अपने युग के सबसे त्यागी, कर्मठ और मनस्वी पुरुष, वासंती को पवित्रता का सर्वश्रेष्ठ प्रमाण-पत्र देते हुए कहते हैं—तुम उतनी ही पवित्र हो वासंती, जितनी पवित्र कि गंगा है। भला गंगा कभी अपनी पवित्रता की डौंडी पीटती है? यह तो उसके जल का वह पावन स्पर्श है जिससे लोक के मन में बिना प्रयास के यह आस्था आ जाती है कि गंगा और पवित्रता दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। यह विश्वास कैसे आ जाता है—यह मैं नहीं बता सकता। पर यह विश्वास आता है, यह तो सत्य है। ठीक उसी प्रकार तुम्हारे पास आ जाने पर ही तुम्हारी पवित्रता का विश्वास मन में अनायास आ जायेगा। आचरण की शुद्धता, विचारों का निष्कलुष होना, मनोभावनाओं का कल्मष-विहीन होना—मानव-चरित्र के ये वे तत्त्व हैं, जिनसे पवित्रता की परीक्षा की जा सकती है, की जाती रही है। और ये सारे तत्त्व दूर से नहीं देखे जा सकते—निकट आने पर ही उनका बोध होता है। सत्य देखा नहीं जाता, अनुभव किया जाता है; पवित्रता आँकी नहीं जा सकती, हृदयंगम की जा सकती है। उसी प्रकार जो पुरुष तुम्हारे हृदय तक पहुँच जायगा, वही तुम्हें तौल लेगा, तुम्हारी पवित्रता का पता पा जायगा।

शब्दार्थ—(पृ० ८०-८२)—निष्कलंक = कलंकरहित। पर्वत = पहाड़। दरार = छेद। दहकना = तमतमाना। स्पष्ट = साफ। गर्व = अभिमान। वरण = विवाह। इतिहास = पूर्वकथा। जड़ = चेतनाहीन। हीन = नीच। स्वेच्छा = अपनी इच्छा। विनोद = परिहास। शक्ति—सामर्थ्य। तर्क = विकल्प। उपत्यका = पुलिन। तार्किक = जो तर्क करे। निरूपण = विवेचन। आतंक = भय। चेतना = बुद्धि। मनोविकार = भावना। भगीरथ = एक राजा, जिसने तपस्या करके गंगा को शिवकी जटा, ब्रह्मा के कमंडल से मुक्त कर धरती पर लाने की अथक तपस्या की थी। दग्ध = जला हुआ, झुलसा हुआ। मरुभूमि =

रेगिस्तान । नन्दन = आमोद-वन, हरी-भरी फुलवारी । शुभ = भला । मंगल = कल्याण । आस्था = विश्वास । ध्रुव = निश्चित । नतमस्तक = श्रद्धावनत । गौरवित = गौरवान्वित । महाभाग = सौभाग्यशाली । कंठ = गला । ललाट = माथा ।

(३०) तुम अग्नि नहीं हो जो............तुम्हारा काम होगा ।

(पृ० ८२, पं० २)

इन पंक्तियों में आचार्य सेनापति विक्रममित्र वासंती के हृदय की शंकाओं को अंतिम बार रगड़-रगड़ कर साफ कर रहे हैं। वासंती के मन की बद्धमूल शंका कि कोई राजकुमार उसका पिछला इतिहास जानकर वरण करने से अवश्य ही अस्वीकार कर देगा, विक्रममित्र के बार-बार प्रयत्न करने पर हिली तो अवश्य है, पर पूरी तरह निकल नहीं पायी है। वह बौद्ध पिता की पुत्री है, इसीलिए तर्कों ने उसकी आस्था को क्षत-विक्षत, उसके विश्वास को कातर और उसकी अशंकाओं को इतना सबल बना दिया है कि वह आगे बढ़ती हुई भी फरफराते हुए उत्तरीय की तरह अपने पूर्व इतिहास को समेट-समेट लेती है। वह न जाने कितने दिनों से इसी पर तर्क-वितर्क करती हुई, मूल समस्या से विलग जा पड़ी है और तर्कों को ही सत्य मान बैठी है। युग का सबसे बड़ा नीतिवादी, शासकों का भी नियंता विक्रममित्र उसके मन में पुनः इस आत्मविश्वास को जमाने का उपक्रम कर रहे हैं कि वह गंगा की तरह पवित्र है, दूध की तरह स्वच्छ है—फिर भी वासंती है कि अपनी भावनाओं से ही बार-बार उलझ जाती है। यही कारण है कि विक्रममित्र उसे बारम्बार मनोविकारों से ऊपर उठने को कहते हैं, और सत्य को उसी रूप में ग्रहण करने को कहते हैं। असत्य का सेवार कभी भी सत्य के कमल को ऊपर उठ आने से नहीं रोक सकता—इसे हृदयंगम करने का परामर्श देते हैं। वे कहते हैं कि वह आग का गोला; कलंक की पिटारी नहीं है कि जो भी ग्रहण करेगा, हाथ जला बैठेगा, काला कर लेगा। वह तो पवित्रता की वह खान है जो संग्रहीत होकर जटाजूट में उलझी हुई है। आवश्यकता है किसी आत्मविश्वासी तपस्वी भगीरथ की जो परम विश्वास के साथ उसे असत्य के आडंबरों से मुक्त कर लोक की समतल भूमि पर ले आवे। तब देखना—वह किस

प्रकार प्यासों की तृप्ति, घायलों की औषधि और कर्मशीलों की मुक्ति बन जाती है। यह तभी हो सकता है जब कि मानव की सद्भावनाओं में अडिग विश्वास हो, कल्याण में अडोल आस्था हो। विक्रममित्र अंतिम रूप से वचन देते हैं कि उन्होंने वासंती का उद्धार, आर्य-गौरव के उद्धार के निमित्त किया था। इसके लिए वे स्वयं सैनिकों के साथ जंगल-जंगल भटके थे, शस्त्र-परिचालन किया था। यदि आर्य-गौरव का यह उद्धार सत्य है तो वासंती का उद्धार असत्य नहीं हो सकता। आवश्यकता पड़ेगी तो आर्य-गौरव के लिए जितना अथक परिश्रम सेनापति ने किया है, वासंती के वरण के लिए वे उससे भी अधिक परिश्रम करेंगे। सेनापति को अगाध विश्वास है कि एक दिन आर्यावर्त्त के सभी राजकुमार गंगा-सी पवित्र वासंती के सम्मुख श्रद्धावनत होंगे और वासंती इस परिस्थिति में होगी कि वह अपने परिणय से जिसे चाहे गौरवान्वित कर दे।

शब्दार्थ—(पृ० ८३)—स्वार्थ = अपना हित। घेरना = व्यापक बनाना। प्रलय = नाश, विध्वंस।

(३१) फिर उस दिन तुम्हींने..........वहाँ क्या होगा।

(पृ० ८३, पं० नीचे से ८)

यह पंक्ति काशी की राजकुमारी वासंती, कुमार विषमशील से प्रेम करनेवाली मलय कुमारी मलयवती से उस समय कह रही है जब कि उसके मन में यह आस्था जम गयी है कि वस्तुतः लोक की दृष्टि में वह पवित्र है और किसी भी सम्पन्न राजकुमार से उसका परिणय हो सकता है। मलयवती जो अपनी एक मात्र प्यारी सखी के दुख से स्वयं कातर थी, आचार्य विक्रममित्र द्वारा प्रदत्त वासंती की पवित्रता के प्रमाण-पत्र की बात को सुनकर एकान्त में उससे परिहास कर देती है—"अब कहो किसका वरण करोगी? कौन होगा वह महाभाग जिसके कण्ठ में गौरव की यह माला पड़ेगी?" वासंती शायद परिहास में ही कुमार विषमशील का नाम ले लेती है, यह अच्छी तरह जानती हुई भी कि मलयवती कुमार से प्रेम करती है। मलयवती चौंक उठती है—आशंका, भय और न जाने ऐसे कितने ही भाव उसकी आँखों में छलक उठते हैं। मलयवती को, कम-से-कम वासंती से यह आशा नहीं रही कि वह सीधे उसके हृदय पर ही प्रहार कर देगी और उस

नस को ही कस कर मरोड़ देगी जिसमें उसके समस्त प्राणों की चेतना धड़क रही है। इसी की व्याख्या करती हुई वासंती उसे समझा रही है—इसमें हर्ज ही क्या है! उस परिस्थिति में भी वे दोनों वे ही रहेंगी जो आज हैं, मलयवती और वासंती। वासंती मलय कुमारी को उस बात की याद दिलाती है जब उसने कहा था कि एक वृक्ष का अवलंब ले कई लताएँ खड़ी होती हैं। क्यों नहीं ये दोनों राजकुमारियाँ एक ही पुरुष का कंधा पकड़ लें और अपना जीवन सार्थक कर लें। और आश्चर्य तो यह है कि इस वन में उन्हें तो एक ही वृक्ष दिखायी पड़ता है। जब सारे वन में सिर्फ एक ही वृक्ष हो तो उस वन की सभी लताएँ कहाँ जायँ। तब यदि उनके मन में उसी वृक्ष की ओर बढ़ कर उसके किसी एक तने को पकड़कर विकसित और कुसुमित होने की लालसा जग जाती है तो अनर्गल क्या है? यहाँ पर वासंती प्रतीकों के माध्यम से स्पष्ट कर देती है कि वे दोनों ही कुमार विषमशील का वरण कर लें और अपने जीवन को धन्य कर लें।

शब्दार्थ—(पृ० ८४)—अनर्गल = बेतुका। निर्धन = गरीब। सहानुभूति = हमदर्दी। प्रतिक्षण = प्रत्येक क्षण। क्षणवाद = दर्शन का वह वाद जो वर्त्तमान और क्षण को ही सत्य माने। रक्त = खून। लोटना = अतिशय आनन्द की व्यंजना।

(३२) बौद्धों में क्षणवाद............दूसरा हो जाता है।

(पृ०—८४, पं० नीचे से ७।)

इन उद्धृत पंक्तियों में वासंती मलयवती की उस बात का उत्तर दे रही है, जिसमें उसने काशी की राजकुमारी पर 'क्षण में ही रुष्ट और क्षण में ही तुष्ट' हो जाने का आरोप किया है। वासंती मलयवती की अंतरंग सखी है और अभी-अभी उसने अपने भावी पति के रूप में मलयवती के प्रेमी कुमार विषमशील की इच्छा प्रकट की है और वह भी मलयवती से ही। मलयवती हतप्रभ हो जाती है और व्यर्थ के वितंडावाद और प्रश्नोत्तर में न पड़कर जाने की इच्छा प्रकट करती है। वासंती ने बाँह पकड़ कर उसे रोक लिया है और उसे याद दिलाया है कि पहले तो वह अपरिमित सहानुभूति प्रदर्शित किया करती थी और कहा

करती थी कि दोनों सखियाँ साथ रहेंगी, एक के बिना दूसरे की स्थिति की कल्पना भी नहीं कर सकती थी। अब जब स्वार्थ का प्रश्न उपस्थित हुआ है तो इस प्रकार मुकर रही है। मलयवती उसे समझ नहीं पा रही, कहती है कि "तुम तो प्रतिक्षण बदलती रहती हो बहन।" इसी पर वासंती ने यह उत्तर दिया है कि उसके पिता बौद्ध हैं और बौद्धों में क्षणवाद को बड़ा महत्त्व दिया जाता रहा है। बौद्ध 'सर्वं क्षणिकं सर्वं दुखं' का सिद्धांत मानते हैं, जिसके अनुसार प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण बदलती रहती है, दूसरा रूप ग्रहण करती रहती है। उसमें भी तो उसी क्षणवादी पिता का रक्त प्रवाहित हो रहा है, तो फिर वह भी क्यों न क्षण-क्षण बदले, रूप-परिवर्त्तन करे। इन पंक्तियों में नाटककार ने वासंती के मुख से बौद्धों के क्षणवाद पर मीठा व्यंग्य कराया है। बौद्ध कर्म से विमुख होकर इस प्रकार सर्वथा पलायनवादी बन जाते हैं

शब्दार्थ—(पृ० ८५-८८)—सभा-कक्ष = सभाभवन। विस्मय = आश्चर्य। बन्दी = कैदी। सर्वोत्तम = सबसे उत्तम। कला = वह विद्या जिसमें मानसिक दृष्टि से सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण हो। प्रदर्शन = नुमाइश। भागवत = वैष्णव। दीक्षित = स्वीकृत। ऋण = कर्ज। ढालना = मिलाना। अत्याचारी = आततायी। जुपिटर और मिनर्वा = ग्रीक देवता। कापिशी = कपिशा नदी के किनारे का देश। शाकल = स्यालकोट। सनातन = शाश्वत। प्रेरक = प्रेरणा देनेवाला। संघर्ष = झगड़ा। यथार्थ = ठीक। पिशाच = राक्षस। हूण और शक = मध्य एशिया की बर्बर जातियाँ। गृह-युद्ध = आपसी झगड़ा। बढ़ती = वृद्धि। उत्तेजना = जोश। धूर्त = चालाक। वीर = लड़ाकू। गरुड़वाहन = जिसका वाहन गरुड़ हो। चक्रधारी = चक्र धारण करनेवाले। तपस्या = तप। भरोसा = विश्वास और बल। धूमिल = मलिन। मृत्यु = मौत। मराडावार = शाकल का यवन राजकुमार जिसका विवाह काशिराज, वासंती से करना चाह रहे थे और जो विक्रममित्र के सैनिकों द्वारा मारा गया। वीरधर्म = वीरों का धर्म, वीरता। उपहार = भेंट। वस्तुएँ = चीजें।

(३२) बौद्ध धूर्त्त हो सकते हैं............नाम से भी कांपते हैं। (पृ०—८८ पं० १२।)

ये पंक्तियां तक्षशिला के वैष्णव यवन शासक अन्तिलिक के राजदूत हलोदर द्वारा विदिशा के आचार्य सेनापति विक्रममित्र से कही गयी हैं और इसमें राजदूत भारत की पश्चिमोत्तर सीमा की राजनीति का स्पष्टीकरण कर रहा है। यवनों में भी दो दल बन गये हैं—एक वे जो वैष्णवधर्म में दीक्षित् हुए हैं, और दूसरे वे जो बौद्ध-धर्म का अनुगमन कर रहे हैं। गांधार, तक्षशिला और कापिशी के यवन वैष्णव हैं और शाकल के यवन बौद्ध। उनके पश्चिम मीतनगर में शक आक्रमण-कारियों ने राजधानी बना ली है और वे आसपास के इलाकों पर लूट-पाट के लिए चढ़ाई किया करते हैं। शाकल के यवन राजकुमार मरण्डाचार की हत्या विक्रममित्र ने की है। इसको लेकर वहाँ के बौद्धयवनों में बड़ी उत्तेजना है। अन्तर्वेद के उजड़े हुए बौद्ध आग में घी का काम कर रहे हैं और कभी यवनों को, कभी शकों और हूणों को वैष्णव राज्यों पर आक्रमण के लिए उत्साहित करते हैं। आचार्य विक्रममित्र का अनुमान है कि कदाचित् इसी संकट में सहायता के लिए तक्षशिला के शासक अन्तिलिका ने अपने राजदूत को विदिशा भेजा है। पर हलोदर स्पष्ट शब्दों में कहता है—जी नहीं, बौद्धों में अब लड़ने का बल नहीं रहा। सम्पूर्ण विश्व को क्षणिक माननेवाले बौद्धों को अब अपना जीवन और राज्य सबसे अधिक प्यारे हैं। वे मृत्यु के नाम तक से डरते हैं। इसलिए यदि संघर्ष हुआ तो उनकी हार निश्चित है। हाँ, वे धूर्त्त जरूर हैं। प्रसादजी ने लिखा है—"वीरता जब भागती है तब उसके पैरों से राजनैतिक छल-छंद की धूलि उड़ती है।" बौद्धों से वीरता तिरोहित हो चुकी अब सिर्फ राजनैतिक धूर्त्तता शेष बची है। और हमारे रक्षक सुदर्शन-धारी भगवान् विष्णु हैं, फिर आपकी तपस्या का तो भरोसा है ही।

शब्दार्थ (पृ० ८९-९०) :—सशस्त्र = हथियारों से लैस। अतिथि = मेहमान। दुर्दान्त = प्रबल। अग्नि = आग। महारथी = परमवीर। पुष्करावती = आधुनिक पेशावर। मुद्रा = मुहर। नन्दी = शिव का वाहन। दीक्षा = उपदेश, मंत्र।

उपलक्ष = निमित्त । प्रासाद = महल । उपासना = पूजा । उपभोग = आनन्द । मेघरुद्र = कालिदास । सेना-यात्रा = सेना का प्रयाण और आगे बढ़ना, सेना का सफर । स्मरणीय = याद रखने योग्य । रचना करना = लिखना । कुमार कार्तिकेय = शिव के सुपुत्र और देवताओं के सेनापति । तारकासुर = एक आततायी निशाचर । दानव = राक्षस । स्वर्ग = देवताओं का निवास-स्थान । रुद्र-पराक्रम = शिवजी का तेज, प्रताप । वृत्ति = भावना । शक्ति = बल । प्रेरक = उत्तेजना देनेवाले । अंश = भाग । सार्थक = अर्थ युक्त । आक्रमण = चढ़ाई ।

(३४) उनका नाम तो है मेघरुद्र.........सार्थक कर दिया है ।

(पृ० ९०, पं० १३)

उद्धृत पंक्तियाँ आचार्य सेनापति विक्रममित्र द्वारा तक्षशिला के यवन राजदूत हलोदर से व्यक्त की गयी हैं और इनमें सेनापति कालिदास के नामकरण का रहस्योद्घाटन कर रहे हैं । हलोदर कालिदास नाम से परिचित है, मेघरुद्र से नहीं । आचार्य, वसुमित्र की वीरता की प्रशंसा करने के प्रसंग में यह कह देते हैं कि कवि मेघरुद्र उन्हीं की विजय-यात्रा को लेकर 'कुमार संभव' लिख रहे हैं। इसी पर हलोदर के यह पूछने पर कि मेघरुद्र कोई अन्य व्यक्ति है या वही कालिदास, विक्रममित्र इस नामकरण का इतिहास अवगत कराने लगते हैं । कालिदास का वास्तविक नाम या बौद्धों का दिया हुआ नाम मेघरुद्र था । यद्यपि उसमें रुद्र के समान पराक्रम भी है, पर अपनी मोरपंखी तूलिका से जिन कोमल और ललित श्लोकों का निर्माण करने में वे अधिक समर्थ और सफल सिद्ध हुए हैं, वह इस नाम के अनुकूल नहीं पड़ता । उसके इसी ललित काव्य के उत्कर्ष को देखकर विक्रममित्र ने नाम बदल दिया । यह कालिदास नाम वही है । काव्य में शब्द-शक्तियों का खुलकर प्रयोग होता है और मेघरुद्र इसमें अप्रतिम हैं । उनके शब्द-शब्द से एक विशिष्ट गूँज और ध्वनि निकलती है । दूसरे उनके काव्य से आज के जनजीवन में एक नयी शक्ति का संचार हो रहा है, आर्यों की पराभूत आत्मा फूत्कार कर जाग उठी है, भारतीय संस्कृति मरणासन्न होकर पुनः जी उठी है। शक्ति की अधिष्ठात्री देवी काली हैं । इसीलिए विक्रममित्र ने मेघरुद्र के रौद्र को

हटाकर शब्द और आत्मिक शक्ति की शालीनता के अनुरूप उसका नाम कालिदास रख दिया है। अब वह इसी नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। उसमें शक्ति के सभी रूप जैसे अभिव्यक्ति पा रहे हैं—आर्य-शक्ति के सभी तत्त्व चाहे वह नैतिक हो या राजनैतिक, सामरिक हो या आत्मिक, सांस्कृतिक हो या आध्यात्मिक, प्राकृतिक हो या स्वर्गिक—सभी का संश्लिष्ट रूप उसके काव्य में अभिव्यंजित हो रहा है। वह तलवार के साथ-साथ कलम का भी धनी है, वह मानव प्रकृति के साथ-साथ मानवेतर प्रकृति का भी कुशल चितेरा है, वह गीतकार, प्रबंधकार और नाटककार सब कुछ है। ऐसा लगता है कि कालिदास ही उसके गुणों के अनुरूप नाम है, सार्थक है।

शब्दार्थ (पृ० ६१) :—लोकधर्म = लौकिक धर्म, दुनियादारी। मुक्त = स्वतंत्र। लोकाधिकरण = लोक-व्यवहार। प्लुतो = प्लेटो, जो महान् दार्शनिक सुकरात के शिष्य थे। स्वप्नद्रष्टा = कल्पना प्रिय, अतीन्द्रिय। मोहाच्छन्न = मोह से आच्छन्न। नागरिक = नगर-सम्बन्धी। लोक = दुनिया। सर्वसाधारण = जनता। सुबोध = सुगम। लोक-रंजन = जन-मनोरंजन। लोकतृप्ति = जनता की संतुष्टि। सहचर = साथ-साथ विचरण करनेवाला। अनुवर्ती = अनुगामी। वैराग्य = विराग, संन्यास, निःस्पृहा।

(३५) इस देश में लोकधर्म······समझते थे। (पृ० ९१, पं० २)

ये पंक्तियाँ आचार्य विक्रममित्र द्वारा यवन राजदूत हलोदर से कही गयी हैं और इनमें नाटककार भारतीय कवियों की विशिष्टताओं पर प्रकाश डाल रहा है। यवन राजदूत को विनोद मिश्रित आश्चर्य होता है कि तूलिका को स्याही में डुबोकर शब्द-चित्र उखारनेवाले कवि कालिदास को तलवार से खून की होली खेलने के लिए काशिराज पर आक्रमण हेतु भेजा गया है। वह कहता है कि वह बेचारा युद्ध क्या करेगा। इसी पर आचार्य कहते हैं कि भारतीय कवि कल्पनाजीवी होने के साथ-साथ कर्म योगी भी होता है। यह धारणा तो पाश्चात्य विचारकों की है कि कवि स्वप्न द्रष्टा, अर्द्ध पागल और लोक तत्त्व से सर्वथा हीन होता है। उसे कर्म से कुछ लेना-देना नहीं, रात-दिन जो अपनी भावनाओं के बुदबुदों से खेले, बालू के घरौंदे बनावे और हवाई किलों का निर्माण करे, वही कवि। जीवन की जटिलताओं से सर्वथा दूर रहकर भावनाओं की कुहेलिका और स्वप्न के इन्द्रजालों

से उलझने वाला सच्चा कवि नहीं। हमारे देश का आदि कवि कण्ठ तक जीवन-सागर में डूबा था, उसके खारेपन से पूर्ण परिचित था। वह कानों में इत्र के फाहे डालकर नहीं चला करता था उसका अँगोछा देह के पसीने से तर रहा करता था। उसका काव्य कर्म की कठोरता, जीवन की समस्याओं और मनोविकारों की आँख-मिचौनी से पूर्ण रहा करता था। कालिदास उसी परंपरा में उत्पन्न हुआ है। वह लोकधर्म के धरातल पर पैर जमाकर अंतरिक्ष में सर ताना करता है। इसीलिए उसकी आदर्श प्रतिभाओं का निर्माण धरती की मृतिका से हुआ है। लोक में जो न पैठ सका, वह परलोक की चिन्ता क्या करेगा? जो वास्तव को नहीं पहचान पाया, वह अवास्तव की झाँकी कैसे पा लेगा? जो मानव को नहीं परख सका, वह अतिमानव को कैसे निरख लेगा। हमारे देश का कवि इसलिए पहले लोक में होता है, वास्तव को पहचानता है, मानव को परखता है। कर्म उसकी आधारशिला है, मर्त्य उसका धरातल। धर्म उसका आचरण है, स्वर्ग उसका लक्ष्य।

(३६) किन्तु हम तो कवि..................योजन तक फैल जाते।
(पृ० ९१, पं० नीचे से १३)।

इन पंक्तियों में आचार्य विक्रममित्र उपर्युक्त कथन की ही विशद व्याख्या करते हुए कहते हैं कि हमारे देश में कवियों को दो कार्य करने पड़ते हैं। पहले तो वे अपने आस-पास फैले वातावरण को हृदयंगम करते हैं, प्रकृति के रहस्यों को, जीवन की समस्याओं को समझने का उपक्रम करते हैं। इस कार्य की सिद्धि के लिए उन्हें कर्म कोलाहल में प्रवृत्त होना पड़ता है, जीवन में रमना होता है। जो कवि जीवन में जितना ही रमता है, उसका काव्य उतने ही उत्कर्ष का अधिकारी बनता है—"अनबूडे बूड़े तिरे जो बूड़े सब अंग" वाली बात ही चरितार्थ होती है। दूसरा कार्य यह कि वह अपने अनुभवों, विचारों आदि के निचोड़ को इस प्रकार सुन्दर से सुन्दर रूप देकर, सज्जा देकर उपस्थित करता है कि उसका काव्य लोक-रंजन और लोक तृप्ति करनेवाला सिद्ध होता है। पहले का सम्बन्ध उसके भाव पक्ष से है, दूसरे का उसके कलापक्ष से। भाव पक्ष का सौंदर्य

वस्तुतः लोकधर्म और जीवन तथा जगत् का ही सौन्दर्य है। इस प्रकार कवि लोकरुचि का परिष्कार और प्रसादन—दोनों करता है। वह युग का चारण, काल का वैताली होता है। आवश्यकता पड़ने पर वह बाँस की बाँसुरी, और पाञ्चजन्य दोनों उठाता है। इसीलिए भारतीय काव्यों के नायक लोकनायक होते हैं, जिनके एक हाथ में कमल का कोमल सुरभित पुष्प रहता है, तो दूसरे हाथ में लौह गदा। एक हाथ में सुदर्शन चक्र रहता है और दूसरा अभयदान देने को प्रसारित। यदि एक ओर वह राधा की साड़ी खींचता हुआ क्रीड़ा करता है तो दूसरी ओर घोड़े की रास थाम कर युद्ध का संचालन भी। वह जीवन के अंधकार के बीच में से एक विघूर्णित आवर्त्त की तरह उठता है और प्रकाश का आमंत्रण करता है। आचार्य विक्रममित्र सामने वासुदेव के वृक्ष की ओर संकेत करते हुए कहते हैं—हलोदर, जिस प्रकार यह वृक्ष पृथ्वी में गड़कर, गल कर—और तब अंकुरित, विकसित, पुष्पित होकर प्रसरित हुआ है, ठीक उसी प्रकार हमारे देश का कवि भी लोक में डूब कर लोक से ऊपर जाता है। इसीलिए हमारे यहाँ कला और संस्कृति के समस्त वैभव का प्रतीक कमल माना गया है, जो कीच से उत्पन्न होकर जल के ऊपर उठता है और जल से ही जीवन प्राप्त कर उसकी बूँदों को अपने पर टिकने भी नहीं देता। कालिदास इसी प्रकार का कवि है। वर्त्तमान भारत की सर्वाधिक सजीव, सुसंस्कृत और सुन्दरतम जिह्वा है वह। उसके अक्षर-अक्षर भारतीय संस्कृति के सर्वश्रेष्ठ को उपस्थित कर रहे हैं। उनसे हमारा देश, प्रेम, कर्त्तव्य, वैराग्य और निष्ठा का पाठ पढ़ रहा है। वह वर्त्तमान भारत की आत्मा का सबसे बड़ा शिल्पी, सबसे समुन्नत चेतना-किरण है। तभी तो आज प्रातःकाल जो श्लोक उसकी जिह्वा से झर जाते हैं वे कल ही तक पाँच योजन तक फैल जाते हैं, अनेकानेक जिह्वाओं पर डोलने लगते हैं।

शब्दार्थ—(पृ० ९२)--महान् विस्मय = बड़े आश्चर्य। भाव-विभोर = भाव में डूबी हुई। काव्य-रचना = काव्य लिखना। इन्द्रजाल = जादू, कुछ जो समझ में नहीं आवे। भिक्षा-पात्र = भीख माँगने का पात्र। भिक्षाटन = भीख माँगने के लिए। देव-दुर्लभ = देवताओं के लिए भी दुर्लभ। तुष्टि = संतुष्टि। राजभोग = राजाओं के योग्य भोजन। उपवास = फाकाकशी।

(३७) दे मेघदूत की रचना..........काव्य-रचना भी इन्द्रजाल है।
(पृ० ९२, पं० ९)

ये पंक्तियाँ राजदूत हलोदर द्वारा कालिदास की प्रशंसा में विक्रममित्र से कही गयी हैं। राजदूत शासक की मनोभावनाओं को देखकर अपनी अभिव्यक्ति में परिवर्त्तन ले आता है। वह बताता है कि पिछली वार जब वह गरुड़स्तम्भ के निर्माण के लिए विदिशा आया था, उस समय कालिदास की अवस्था कुल पन्द्रह वर्ष की थी और वे मेघदूत के श्लोक लिख रहे थे। उस समय उनकी मुद्रा खोयी-खोयी हुई-सी विस्मय-विमुग्ध रहा करती थी। प्रकृति के दृश्यों को देखकर, वे इतने भावविमुग्ध हो जाते थे कि जैसे लगता था किसी दूसरे लोक में पर्यटन कर रहे हों। उस समय संपूर्ण उत्तराखंड का प्राकृतिक सौन्दर्य जैसे उनके हृदय में अपना सौरभ विखिर रहा था, और उनकी आकृति पर अनेक प्रकार के रंग आते थे और विलीन होते थे। भावना के आरोह-अवरोह में उनकी आकृति क्षण-क्षण में रंग और मुद्राएँ वदलती थी। जैसे आकाश में वदलते हुए मेघों की प्रतिच्छवि उनकी त्वचा पर उभर रही हो। यह भाव विमुग्धता, विस्मय विमोहकता देखकर तो लगा कि काव्य-रचना कोई जादू तो नहीं कि यह अतीन्द्रियता आ जाया करती है। काव्य की प्रक्रिया होती ही ऐसी है कि जिस भाव में कवि रमता है, उसकी आकृति पर तदनुकूल रंग बनते-विगड़ते रहते हैं। कवि रचना के समय किसी प्रसविनी की सी पीड़ा में अकुलाता रहता है, कुलबुलाता और छटपटाता रहता है।

शब्दार्थ (पृ० ९३-९४) :—प्रपंची = छली, ठग। भिक्षु = बौद्ध धर्म में दीक्षित व्यक्ति, भिक्खु। सम्मोहित = जादू कर लुभानेवाली आँखें। वाल-ब्रह्मचारी = जो कभी किसी स्त्री के पास न गया हो। विस्मय = आश्चर्य। रहस्य = जो समझ में आसानी से न आवे। असमंजस = संदेह, सकपकी-सी स्थिति। आत्मीय = अपने। गरुड़स्तम्भ = वह प्रस्तर-खंड जिस पर गरुड़ बना हुआ हो। निष्ठा = श्रद्धा। प्रमाण = उदाहरण। चिरकाल = सभी दिनों तक। स्थिर = अडोल। कृति = निर्माण। बंधु = भाई। बन्धुत्व = भाईचारा। सहचर = साथ-साथ चलनेवाले। पुण्य भूमि = मातृभूमि। कल्याण = मंगल।

बर्बरता = असभ्यता। अकृतज्ञ = कृतघ्न। विधान = नियम। स्वदेशी = अपने देश के। विदेशी = दूसरे देश के। सरल = भोले। सुबोध = समझ में आने योग्य। भद्र = संबोधन का आदरवाची शब्द।

(३८) विदेशी बन कर······जीवन टिका है। (पृ० ९४, पं० ९)

उद्धृत पंक्तियों में यवन राजदूत हलोदर आचार्य विक्रममित्र से पूर्णतः प्रभावित होकर उनकी श्रेष्ठता का गुणगान करता हुआ यवनों के बस जाने, धर्म-परिवर्त्तन और संस्कार-ग्रहण करने की सार्थकता सिद्ध करता है। तक्षशिला के यवनों ने इसी देश को अपनी मातृ भूमि स्वीकार कर, वैष्णव धर्म को ग्रहण कर और भारतीय संस्कारों को अंगीकृत कर अपने स्वार्थ में इस तरह घुला मिला दिया है कि अब उन्हें विधर्मी, विदेशी या अस्पृश्य नहीं माना जा सकता। इसके लिए वहाँ के यवनों को गर्व है कि उन्होंने बड़े प्रगतिशील कदम उठाये। हलोदर कहता है कि किसी भी देश की धरती में जन्म ग्रहण कर, वहाँ के अन्न से पल कर अपने-आपको विदेशी मानना घोर असभ्यता का सूचक है। पशुओं में भी यह प्रवृति पायी जाती है कि वे जिस वन में रहते हैं, जिस नदी का पानी पीते हैं—उन्हीं के बने रहते हैं। मनुष्य तो बुद्धिमान् है। जिस धरती पर लोट-लोटकर बड़ा हो, उसी के साथ विश्वासघात करे? यह तो बर्बरता है, कृतघ्नता है। मनुष्य को उसी धरती में अपने आपको मिला देना चाहिये जिसकी धूलि में वह लोटा है, वहीं के निवासियों में घुल जाना चाहिए जिनसे उसके परिवेश और सामाजिकता का निर्माण हो रहा है, उसी स्वार्थ से तादात्म्य बोध करना चाहिये जिससे आगे चलकर उसे लाभ होनेवाला है। तक्षशिला के यवनों ने भारत को अपना देश, भारतीय धर्म को अपना धर्म और भारतीय स्वार्थ को अपना स्वार्थ मानकर एक सभ्य जाति का प्रमाण उपस्थित किया है—और इसके लिए उन्हें कोई खेद नहीं, बल्कि वे गौरवान्वित हैं। हलोदर ने यह धारणा पहले ही व्यक्त की है कि सभ्यता की पहली किरण इसी देश में फूटी थी और यहीं से वह यवनों के देश तक पहुँची थी। यह तो पितामह का ऋण है जो चुकाया जा रहा है।

शब्दार्थ (पृ० ६५-६७) :—आकर्षण = खिंचाव। अभाव = कमी। सरलता = आसानी। असत्य = झूठ। आड़ = बहाना। विनय = विनीत। भिक्षाटन = भीख के लिए घूमना। नित्य = सदा। कर्कश = कड़ा। खेवा = बेर। माँग = माथा का बाल। निर्वाण = बौद्धों की चरम सिद्धि। पग = कदम। केवट = मल्लाह, नाविक। बटोही = यात्री। भावी = कल का, भविष्य का। महापुरुष = बड़ा आदमी। वाल्मीकि = रामायण लिखनेवाले संस्कृत के आदि कवि। पतंजलि = महावैयाकरण। उत्तराधिकारी = अधिकार सम्हालनेवाला। ललाट = माथा। गंभीर = गहरा। चिन्तन = मनन। आभा = छटा। झलकता = चमकता। मंत्रमुग्ध = जैसे कोई मंत्र से मोहित हो गया हो निकट = नजदीक। भिक्षा पात्र = भिक्षा माँगने का बरतन। कायाकल्प = परिवर्तन। कोसल = अयोध्या। संगम = संधि। सरयू = वह नदी जिसके किनारे अयोध्या नगरी बसी है। कपिलवस्तु = जहाँ बुद्ध का जन्म हुआ था। गढ़ = किला, स्थान। विरोध = खिलाफ। शास्त्रीय वैदिक विधान = प्राचीन वैदिक धर्म। अजेय = अपराजेय। अडोल = स्थिर। मांसाहार = मांस-भक्षण। कुलीन = सम्भ्रान्त। विकृति = विडंबना। प्रतिक्रिया = किसी क्रिया का विरोधी परिणाम। तान्त्रिक = जो जादू-टोना में विश्वास करे। सम्मोहन = वशीकरण। लोकमत = जनमत। विक्षुब्ध = क्रुद्ध। पटक गया = छोड़ गया। पाटलीपुत्र = आधुनिक पटना। सम्बन्धी = सम्बन्ध के, नाते-रिश्ते के। अनुमान = अंदाज।

(३९) इतना ही नहीं......यह दूसरी विकृति। (पृ० ९७ पं० ८)

उद्धृत पंक्तियाँ आचार्य सेनापति विक्रममित्र द्वारा कालिदास की जीवन-गाथा के प्रसंग में यवन-राजदूत हलोदर से कही गयी हैं और इनमें सेनापति बौद्धों और ब्राह्मणों के आपसी संघर्षों और क्रिया-प्रतिक्रियाओं की एक संक्षिप्त रूप-रेखा प्रस्तुत कर रहे हैं। कालिदास का जन्म काशिराज्य और कोसलराज्य की सीमा के पास सरयू किनारे के किसी गाँव के ब्राह्मण-कुल में हुआ था। वह स्थान भगवान बुद्ध की जन्म भूमि कपिलवस्तु के ही पास था इसलिए स्वाभाविक है कि वहाँ

बौद्धों का गढ़ हो। पर इस गढ़ में भी कतिपय कट्टर ब्राह्मण कुल वैदिक विधान में आस्था देखते हुए तदनुकूल धार्मिक आचरण कर रहे थे। क्रमशः उनकी कट्टरता और धर्मान्धता इस हद तक बढ़ी कि बौद्धों की अहिंसा के विपरीत वे खुलकर हिंसा करने लगे और मांसाहार को प्रश्रय देने लगे। कालांतर में यह प्रवृति यहाँ तक बढ़ी कि जिसके घर के पीछे हड्डियों का जितना ही बड़ा अम्बार रहता, वह उतना ही कुलीन और संभ्रान्त समझा जाने लगा। आचार्य विक्रममित्र जैसे परिताप और पश्चाताप के स्वर में हलोदर से कहते हैं कि एक विकृति को रोकने के लिए ब्राह्मणों ने दूसरी विकृति को प्रश्रय दिया। धर्म-कट्टरता का स्तर इस हद तक गिर चुका था कि वशिष्ठ की संतान अपने घर के सामने कामधेनु बाँधना छोड़ कर चबायी हुई हड्डियों का अम्बार अपने घर के पीछे जमा करने पर तुली हुई थी। बौद्धों ने पशुओं की बलि रोकने के लिए अपनी अहिंसा और करुणा के धर्म-चक्र का प्रवर्त्तन किया था। हिन्दुओं ने प्रतिक्रिया में अतिहिंसा और अतिबलि पर जोर दिया। शायद प्रतिक्रिया के ही चलते विकट बुद्धि नामक किसी बौद्ध तांत्रिक ने मेघरुद्र नामक ब्राह्मण-बालक पर सम्मोहन का प्रयोग कर उसका हरण कर लिया और इतनी दूर विदिशा में इसलिए पटक गया कि उसके नाते-रिश्तेदार उसका पता भी नहीं लगा सकें। यह बालक प्रतिदिन भिक्षाटन करता और संध्या समय बौद्ध-विहार में चला जाता कि एक दिन मेरी नजर उस पर पड़ी। उसकी मुद्रा से ही मुझे स्पष्ट हो गया कि यह कोई भावी महापुरुष--वाल्मीकि और पतंजलि का उत्तराधिकारी है। वह विस्मय-विमुग्ध, सुध-बुध खोकर आकाश में मेघों की रंगरेलियाँ निहार रहा था और उसके ललाट पर भावना और चिन्तन की गहरी लकीरें बन-बिगड़ रही थीं। वह प्राकृतिक दृश्य को निहारते हुए इतना बेसुध हो गया था कि केवट की कर्कश आवाज भी उसे धरती पर लौटाने में असमर्थ सिद्ध हुई। मैंने पीछे से आकर उसके कंधे पर हाथ रखा--और उसका कायाकल्प हुआ।

शब्दार्थ-पृ० ६८ :—परिवार = कुटुम्ब। मुण्डित = मूड़ा हुआ। अत्याचार = अनाचार। रक्षक = रक्षा करनेवाले। युवा = युवक। भल्ल = भाला। पूर्वज = जो पहले पैदा हो चुके हों, बाप-दादा। पाखंड = ढोंग। अहंकार = अभिमान। अनाचार = विपरीत आचरण। प्रतिहिंसा = बदला। पटु = होशियार

विशिष्ट = विशेष,खास। अवस्था = उम्र। स्वभाव = प्रकृति। शरीर-तन्तु = शरीर की नसें। मानसिक विकार = दिमाग में उठने वाले विकार। धर्म = आचरण, कर्त्तव्य। दुराचार = बुरे आचरण। संघ = संस्था, सम्मेलन। प्रवज्या = संन्यास। अहंकार = घमण्ड।

(४०) पता नहीं ऐसे लाखों.........भिक्षा-पात्र दे दिया गया।

(पृ० ९८, ५)

उद्धृत पंक्तियों में आचार्य विक्रममित्र बुद्ध-धर्म और बौद्ध आचरण की आलोचना करते हुए उनकी अहिंसा और भिक्षु-जीवन से उत्पन्न परिस्थितियों का सिंहावलोकन कर रहे हैं। बौद्धों ने संपूर्ण जीवन, प्रकृति और राष्ट्र तक को काषाय पहना देने का एक भयंकर उपक्रम किया था, जिसका परिणाम यह हुआ कि देश के वे नवयुवक, जो शस्त्रास्त्र से सुसज्जित हो कर राष्ट्र-धर्म की रक्षा के निमित्त आक्रमणकारियों और आततायियों से लोहा लेते, जूझते—वे मुण्डित केश, काषाय पहन भिक्षाटन करने को निकल पड़े। जिन सशक्त अधरों से 'युद्ध देहि' का स्वर निकलता, उन्हीं से 'भिक्षां देहि' का स्वर निकलने लगा। सारा देश बौद्ध विहारों से भर गया, बौद्ध भिक्षुओं की झोलियों से भर गया। तभी तो विदेशियों को हमारी ओर ताकने का साहस भी हुआ। बौद्धों ने जब अपने धर्म को महायान बना दिया तब तो जैसे स्वराष्ट्र की चिन्ता ही समाप्त हो गयी। उनका ध्यान परराष्ट्र पर ही जा टिका। इस प्रकार देश की स्वतंत्रता अक्षुण्ण न रह सकी। स्वतंत्रता की कली तो गर्म-गर्म शोणित का अर्ध्य चाहती है, अपने अलंकरण के लिए नौनिहालों के मुण्डों की माला धारण करती है। बौद्धों ने अतिशय अहिंसा के चलते जीवन की ऐसी आग्रहपूर्वक उपेक्षा की कि एक दिन वह राष्ट्रघातक सिद्ध हुई। बौद्धों ने मानवता के लिए जो किया हो, यह तो प्रभु जानें, पर धीरे-धीरे उन्होंने राष्ट्र के प्रति बड़ा भयंकर विश्वासघात किया। जन्म लिया नहीं कि निर्वाण की चिन्ता में पागल हो गये और फिर उसके पाने के उपक्रम में वास्तविक जीवन में शील और नीति छोड़ कर रसातल तक पहुँच गये। इससे देश का दोहरा नुकसान हुआ। पहले तो जीवन की उपेक्षा करना सिखलाया गया और फिर आड़ में जीवन के सार्वजनिक अनैतिक पक्ष को ग्रहण करने की सीख देनी पड़ी। पहले पलायन, फिर पापाचार!

(४१) प्रकृति के साथ अनाचार···मात्र से छूट जायग। (पृ० ९८, पं १२) उद्धृत पंक्तियाँ आचार्य विक्रममित्र की हैं और इनमें वे बौद्धों की सबसे बड़ी दुर्बलता पर प्रकाश डाल रहे हैं। वे यवन राजदूत हलोदर से कह रहे हैं कि प्रकृति-विरुद्ध आचरण अधिक दिनों तक नहीं चल सकता। स्वयं प्रकृति उसका बदला लेती है। हम विशिष्ट ऋतुओं में यदि प्रकृति की मांग के अनुसार कार्य न करें तो प्रकृति हमें विकलांग बना देती है। कुछ विशिष्ट व्यक्ति हठयोगी बनकर प्रकृति के विरुद्ध आचरण करते हुए भी उस पर विजय पा लेते हैं, पा सकते हैं। पर समुदाय सहज और प्राकृतिक होता है। जब सारा समुदाय प्रकृति के विपरीत आचरण करने लगता है तो प्रकृति भी जैसे अपने संपूर्ण बल से इन पर टूट पड़ती है तब मानव के अन्तर में एक गजब का आंदोलन होता है। यह संघर्ष आंतरिक अधिक होता है, इसमें मनुष्य के स्नायु एक दूसरे से लड़ते-झगड़ते, कटते-काटते हैं। समुदाय के इसी आंतरिक संघर्ष ने बौद्धों को हीनयान से महायान और महायान से सहजयान तक ला पटका, जहाँ स्त्री पुरुष के नग्न जोड़े विहारों में विचरण करने लगे। यह भ्रष्टाचार की अतिशयता थी, प्रकृति के साथ किये गये दुराचार का कुत्सित परिणाम था। विहारों में विहार होने लगा। हमारी इन्द्रियों का भी तो धर्म है, प्रकृति उन्हें अपने प्रकृतधर्म पर चलने को प्रेरित करती है, उनकी भी कुछ प्राकृतिक माँगें होती हैं, प्रकृति उन्हें पूरा करने को कटिबद्ध है—दृढ़ संकल्प है। सर्वसाधारण, साधारण तरीकों और उपायों से अपने इस प्रकृत धर्म से नहीं भाग सकता। जो भागेगा, प्रकृति उसे रौंद डालेगी। इसीलिए बौद्धों से महासुखवाद का प्रवर्त्तन, हुआ, काषाय से वे नीलांबर पर आ धमके। जिन मनोविकारों के दमन के लिए इन विहारों का निर्माण हुआ था, उनमें मनोविकारों की तृप्ति के लिए ही वाममार्ग का प्रचार हुआ। मनोविकार मारे नहीं जा सकते, प्रकृति यह होने न देगी। वैष्णव धर्म में मनोविकार संयत किये जाते हैं, मारे नहीं जाते। बौद्धों ने समझा, वे मनोविकारों को मार चुके, पर वेही मनोविकार भूत बन-बन कर उन्हें चबाने लगे। हमारे पूर्वजों को या मुझे इसका अहंकार न कभी रहा और न है कि हमने पाखंड को कुचल दिया—अधिक-से-अधिक हम यही कह सकते हैं कि

हमने उसे अत्यन्त संयत और अनुशासित रूप से उसकी प्रकृत राह से लगा दिया है, और चाहते हैं कि वे उसी तरह संयमित और अनुशासित बने रहें। अपना धर्म निबाहें, अपना कर्त्तव्य करें—जीवन को भी सत्य समझें और मृत्यु तो खैर पूर्णविराम है ही।

शब्दार्थ (पृ० ६६) :—मनोविकार = मनोभावना। विहार = बौद्ध भिक्षुओं का स्थान। तृप्ति = संतुष्टि। वाममार्ग = वामाचार, भ्रष्टाचार? शास्त्रीय = विधान = वैदिक विधान। संयत = नियंत्रित। विधि-विधान = तौर-तरीके। प्रपंच = ढोंग। उत्सुक = इच्छुक। स्वाभाविक = प्राकृतिक। विकास = संवर्द्धन। उपयोगी = लाभकारी। नवजात = नया पैदा हुआ। द्रवित = दयार्द्र। पालतू = पोस माना हुआ।

(४२) उसके स्वाभाविक विकास के लिए……दूध दे देती है।

(पृ० ९९, पं० १२)

इन उद्धृत पंक्तियों में आचार्य विक्रममित्र पुनः हलोदर के निवेदन पर कालिदास के कायाकल्प का कथासूत्र ग्रहण करते हैं और कहते हैं कि नदी-तट पर विस्मय-विमुग्ध परिस्थिति में देखा गया मेघरुद्र, उसी क्षण विदिशा के राजप्रासाद में लाया गया। उस समय उसकी उम्र महज दस साल की थी। उसके प्रथम दर्शन में ही यह स्पष्ट हो गया कि वह निश्चयात्मक रूप से वाल्मीकि और पतंजलि की परम्परा का कोई भावी महापुरुष है। इतने सुन्दर किशोर का मुण्डित केश, केश की जड़ों में लगायी गई राख, भिक्षाटन की वृत्ति और उसका पात्र देखकर आचार्य का हृदय जहाँ एक ओर रो उठा, वहाँ दूसरी ओर भिन्ना भी उठा। आचार्य ने अपने हाथों से केश की जड़ों में लगी हुई राख को धोया और उसके स्वाभाविक विकास के लिए जो भी किया जा सकता था, किया। उसकी समुचित शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था की गयी। आचार्य के हृदय की चट्टान जो एक बार डोली तो फिर डोलती ही रही, वह जो एक बार पिघली तो पिघलती ही चली गयी। यह स्वाभाविक भी था। दस वर्ष का बालक और इधर एक बाल-ब्रह्मचारी वृद्ध न जाने कब से वात्सल्य का स्रोत जो उनके अन्तरतम में रिस-रिस कर संगृहीत हो रहा था, अवसर पाते ही भभक उठा,

और उन्हें आपाद-मस्तक भिंगा दिया, सराबोर कर दिया। जिस प्रकार अचानक किसी दिन चाँदनी रात में विन्ध्याचल का हृदय विदीर्ण हो उठा हो, और उसके मन का रस निर्झर के रूप में झर पड़ा हो, उसी तरह आचार्य के कठोर हृदय से यह ममत्व की धारा फूट पड़ी—अचानक, अनायास पर सहज और स्वाभाविक। मनोविकार के वुद-वुद कब चेतना को किस दिशा में मोड़ देंगे, यह कहना कठिन है। हो सकता है कि यह भी कोई प्रकृति की माँग हो, उसीका कोई साग्रह निवेदन हो। ऐसा देखा जाता है कि मातृविहीना नवजात शिशु का पालन करनेवाली नारी के वक्षस्थलों को प्रकृति दूध से भर देती है—ठीक उसी प्रकार आचार्य के निर्भय हृदय से वात्सल्य का स्रोत फूट पड़ा।

शब्दार्थ (पृ० १००-१०१) :—सृष्टि = संसार। सौन्दर्य = खूबी। वाणी = शब्द। परमात्मा = ईश्वर। चरम = अंतिम। परवश = दूसरे के वश में। नास्तिक = अवैदिक। भुजा = बाहु। भिक्षुणियाँ = स्त्री-भिक्षु। सर्वज्ञता = सब जानता। दम भरना = ढोंग करना, अभिमान करना, शेखी बघारना। स्वतंत्र = मुक्त। शीलहीन = अश्लील, अनैतिक, दुर्विनीत। उग्र = उद्धत। दमन = रौंदना। अतृप्त = असंतुष्ट। उन्मत्त = पागल। श्रेय = दायित्व, गरिमायुक्त। आत्मस्तुति = आत्मप्रशंसा। दैवी = देवता का। प्रयोजन = कारण। निःसन्तान = संतानहीन। खेद = दुःख। भौतिक विलास = सांसारिक भोग। आत्मगौरव = महान् भावना। विभव = साजसज्जा, ऐश्वर्य।

(४३) मैं लज्जा और संकोच से……मेरे इसी शरीर का है।

(पृ० १०१, पंक्ति ९)

उद्धृत पंक्तियों में आचार्य विक्रममित्र यवन राजदूत हलोदर के सम्मुख अपने शील और विनय का सहज परिचय देते हुए अपनी सहज प्रसन्नता अभिव्यक्त कर रहे हैं। हलोदर ने मेघरुद्र को कालिदास बनाने का, और इस प्रकार इस महान् राष्ट्र को एक महान् कवि देने का गौरव सेनापति को प्रदान किया है। सेनापति अपने संपूर्ण अहं को जैसे पीकर बोल रहे हों—राजदूत, जब इस महान् राष्ट्र को पतितावस्था से उठाकर गौरव के शिखर पर अवस्थित करने का श्रेय मुझे दिया जाता है—इस युग की सर्वश्रेष्ठता का सेहरा मुझे पहनाया जाता है, तब मैं लज्जा

और संकोच से गड़ जाता हूँ। इस प्रकार की आत्मप्रशंसा से मुझे प्रसन्नता नहीं होती। मैं एक आस्तिक हिन्दू हूँ और मानता हूँ कि यह मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र के चरणों का ही मात्र प्रभाव नहीं था कि पत्थर से अहल्या निकल पड़ी, बल्कि वह उस पत्थर की भी अपनी कुछ गरिमा थी कि वह उस रूप में उपस्थित हुआ। इस राष्ट्र को मैंने महान् बनाया, या इस राष्ट्र ने मुझे ऐसा संयोग दिया कि मैं उसका उचित साधन बन सका। इसमें कौन ठीक है और कौन गलत— यह कहना आसान नहीं। मेघरुद्र को कालिदास मैं ने बनाया, या कि वह मेघरुद्र का अपना सामर्थ्य था कि वह मुझे आकर्षित कर सका? मैं अपने को इतना भर मान सकता हूँ कि मैं उसकी महानता का एक निमित्त मात्र बना। उसकी शिक्षा-दीक्षा का उचित प्रबंध कर दिया और उसके सोये हुए संस्कारों को उत्प्रेरित भर कर दिया। मेरे हृदय में तो वात्सल्य का रस न जाने कब से निचुड़ ही रहा होगा। यह मेघदूत की शक्ति थी जिसने उत्प्रेरित कर उसे छलक जाने को बाध्य कर दिया। मुझे उसके गुणों पर रीझ कर उसे अपना सारा ममत्व दे देना पड़ा। उसने माँगा नहीं, मैंने सारा वात्सल्य उड़ेल दिया। उसने चुल्लू तक नहीं बाँधा था एक प्यासे की तरह। यह तो जब वह उभड़ ही पड़ा तो उसने अपना चुल्लू लगा दिया। वह जितना ही पीता गया, मैं उसे उतना ही देता गया और अपने आपको रिक्त कर देने में मुझे प्रसन्नता ही हुई। मैंने उसका पोषण ठीक उसी तरह किया जैसे कि वह मेरे अपने शरीर का अपना ही अंश हो। वह मेरा वंशज ही नहीं, आत्मज ही हो।

शब्दार्थ (पृ० १०२):—कदाचित् = शायद। मेघदूत = कालिदास का प्रसिद्ध गीतिकाव्य। कुमार संभव = दूसरा प्रसिद्ध काव्य। सौख्य = सुख-भाव। अस्वीकृति = विमुखता, नामंजूरी। भौतिक विलास = सांसारिक सुख। उपहास = मजाक। रुचि = दिलचस्पी। संयम = नियंत्रण, मर्यादा। एक रस = एकाकार, समन्वित। निष्फल = बेकार। प्रलय = सत्यानाश।

(४४) तपस्या और सौख्य............और कुछ मानता नहीं।

(पृ० १०२, पं० ५)

इन उद्धृत पंक्तियों में आचार्य विक्रममित्र प्रकारांतर से वैष्णव दृष्टिकोण को

स्पष्ट करते हुए यवन राजदूत हलोदर से कह रहे हैं कि तपस्या और भोग—दोनों एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं बल्कि एक दूसरे के पोषक तत्त्व हैं। एक के अभाव में दूसरा विकलांग बन जाता है, पूर्णता को नहीं प्राप्त होता। सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति वही है जो दोनों का समन्वय करता है—राजा जनक की तरह या कमल के फूल की तरह। हमारा जन्म, किन्हीं दो प्राणियों के भौतिक सुख से ही तो होता है। स्त्री-पुरुष मिलते हैं—जीवन अद्भुत होता है। इस परम यथार्थ की अवहेलना करके तप कैसे पूर्णता को प्राप्त करेगा ? इसके साथ यह भी ठीक है कि वह भौतिक सुख ही अपने-आप में सम्पूर्ण नहीं है। रात-दिन उसी में लिप्त रहने से व्यक्ति दुराचारी, व्यभिचारी और अतिचारी बन जाता है, तब उसमें जीवन को उत्पन्न करने की क्षमता नहीं रह जाती, वह क्षयी बन जाता है। इसीलिए दोनों का समुचित संतुलन ही जीवन को स्वस्थ, सशक्त और सम्पूर्ण बनाता है। हम भोग भी करें और उसमें अतिशयता भी न आने दें, इसका योग करें। हम योग भी करें, पर मन की सरस वृत्तियों के उत्स को अंगूठे से चौंपे भी नहीं—इसका भोग भी करें। तप में अपनी इन्हीं सरस वृत्तियों को तपस्वी मार देता है—इसीलिए उसका जीवन रुक्ष है। भोग में लोभवश अतिशयता के चक्कर में व्यक्ति पड़ जाता है, इसीलिए उसका जीवन स्वस्थ नहीं रहता। एक में रुचि ही नहीं रहती, दूसरे में नियंत्रण ही नहीं रहता। इसीलिए इन दोनों को मिला देने से ही जीवन स्वास्थ्य प्राप्त करती है। कीच में कमल पैदा होता है, पर वह कीच से ऊपर उठता है। कीच से अपना सम्बन्ध नहीं विच्छिन्न करता, फिर भी उसमें वह लिपटा हुआ नहीं रहता। यदि ऐसा होता तो इन बौद्धों को न तो अपने मन को मारने की आवश्यकता पड़ती और न फिर वामाचार में उलझना पड़ता। हमारा कवि कालिदास अपने काव्यों में इसी तथ्य और सौख्य का समुचित संतुलन उपस्थित कर रहा है

(४५) इस प्रकृति ने जिसे·········विस्मय होगा। (पृ० १०२, पं० १६)

इन पंक्तियों में आचार्य विक्रममित्र यवन राजदूत हलोदर के उस कथन का उत्तर दे रहे हैं जिसमें उसने कालिदास की युद्ध-यात्रा के प्रति यह शंका उठायी है कि वह उनकी प्रकृति के विरुद्ध है। सेनापति व्याख्या करते हुए कहते हैं कि

प्रकृति ने उसे कवि बना दिया, यह मैं मानता हूँ। पर उसी प्रकृति ने उसे पुरुष भी बना दिया है। पुरुष-जन्म बिना युद्ध किये कैसे सार्थक माना जायगा? पुरुष-प्रकृति में स्वभाव से ही संघर्ष के कीटाणु हैं। यदि पुरुष अन्यत्र युद्ध नहीं करेगा तो वह अपने मन से ही झगड़ेगा, जूझेगा और एक दिन अपने शरीर को, व्यक्तित्व को ही चबा जायगा। उसके व्यक्तित्व की पूर्णता और स्वास्थ्य के लिए यह अत्यावश्यक है कि वह संघर्ष करे और बाहर करे। इसका अवसर उसे मिलना चाहिये ही। पुरुष-प्रकृति से प्रत्यक्ष युद्ध को हटा दो, वह कूटनीतिज्ञ, देशद्रोही और झक्की बन जायगा। बौद्धों ने सभी पुरुषों को अहिंसक बना दिया, परिणाम देख रहे हो—एक तो वे अपने मन से जूझे, फिर राष्ट्र से जूझने के लिए देश-द्रोही बन गये। यह तो सत्यानाश है। यहाँ फिर प्रकृति का ही प्रश्न उठता है। युद्ध पुरुष-प्रकृति की सहज वृत्ति है। इसीलिए मैंने कालिदास को, अपने कवित्व को नहीं, पुरुषार्थ को स्वस्थ और सफल बनाने के लिए युद्ध करने को भेज दिया है। इससे उसके काव्य को भी बल मिलेगा, दीप्ति मिलेगी। और हलोदर जानते हो मयूरपंख से मेघदूत के सरस श्लोक लिखनेवाले इस कवि ने कैसा युद्ध किया? तुम्हें मेघदूत की सरसता से जितना विस्मय हुआ होगा, उससे भी अधिक विस्मय यह कथा सुनकर होगा। अभी-अभी समाचार आये हैं—कवि कालिदास अपने सभी शत्रुओं को विजित कर विदिशा पधार रहे हैं।

शब्दार्थ—(पृ० १०३-१०४)—संयत = नियंत्रित, गंभीर। पोष्यपुत्र = पोसपुत्र। अमंल = अकल्याण। विस्मयजनक = आश्चर्यजनक पद्धति = रास्ता, तरीका। वरुणा = काशी के पास की एक नदी। निर्भय = निडर। आपत्ति-काल = संकट-काल। युक्ति = सूझ। मुक्ति = आजादी। अभ्युदय = उन्नति, विकास। निष्ठा = विश्वास। गुल्म = झुंड। अक्षौहिणी = बटालियन। परामर्श = सलाह। हिंस्र = हिंसक।

(४६) काशिराज को सूचना भेजकर............यवन कन्या कौमुदी भी।

(पृ० १०४, पं० १५)

उद्धृत पंक्तियों में आचार्य विक्रममित्र यवन राजदूत हलोदर से कवि कालिदास की उस निर्भयता की चर्चा कर रहे हैं जिसका प्रयोग कर उन्होंने काशिराज

को विजित किया—विस्मयजनक रूप से। कवि ने अदम्य विश्वास और प्रत्युत्पन्नमतित्व के साथ मानव की उन भावनाओं का आश्रय लेकर केवल एक अंग रक्षक के साथ दुर्ग में प्रवेश किया जिनके चलते व्यक्ति में दुर्बलताएँ आ जाती हैं। काशिराज की एक ही संतान थी और उसका अपहरण विक्रममित्र ने कर लिया था। इसलिए कालिदास ने यह अनुमान लगाया कि उस संतान के प्रति उनके मन में अवश्य ही वात्सल्य का सागर हिलोरें मार रहा होगा। उन्होंने यह संवाद काशिराज के पास भेज दिया कि उनकी पुत्री वासंती के सम्बन्ध में कुछ आवश्यक परामर्श करने के लिए वे दर्शन करना चाहते हैं। पुत्री का मोह पिता को अतिशय भावुक बना ही देगा। दूसरे कवि ने यह भी सोच लिया कि काशिराज कट्टर बौद्ध हैं, इसलिए निश्चयात्मक रूप से न तो उनके पास शस्त्रास्त्र होंगे और न तो उनके सामने शस्त्रास्त्र लेकर जाना चाहिये। इन्हीं विचारों के साथ पूरे आत्मबल के साथ वे शत्रु-दुर्ग में चले गये। सेना को कई योजन पीछे ही छोड़ दिया। अनुमान के ही अनुसार काशिराज वीरों से नहीं, मंत्रियों और बौद्ध तार्किकों से घिरे बैठे थे। वहाँ भी अपने वाक्‌चातुर्य से कवि ने राष्ट्र, राष्ट्र-धर्म, राष्ट्र-रक्षा और राष्ट्र-गौरव के वे भव्य चित्र खींच दिये कि सबकी बोलती बंद हो गयी—सबके मुँह खुले के खुले ही रह गये। कवि ने भावनाओं का आश्रय लेकर भावनाओं को पराभूत किया, और मानव की उन नसों को ही पकड़ लिया जिनके चलते वह कर्म में प्रवृत्त होता है। आखिर वे भी तो मनुष्य ही हैं। देखा तो यहाँ तक गया है कि आत्मबल से बड़े-बड़े हिंसक पशु भी विनीत और नतशिर बन जाते हैं। वासंती का प्रेम काविराज को विदिशा ला रहा है। हलोदर कुछ ही प्रहरों में काशिराज, कुमार देवभूति और यवन-कन्या कौमुदी सभी विदिशा पहुँच जायँगे। यह कवि की वाणी और आत्मबल का प्रभाव है कि बिना एक बूँद खून बहाये इतना बड़ा काम सम्पन्न हो गया।

शब्दार्थ—(पृ० १०५-१०६)—असंयत = अनियंत्रित, आसंयमित। साधुवाद = धन्यवाद। पतन = पराभव। परिणाम = फल। पूर्ववृत्त = इतिहास, पहले का किस्सा। मालवदम्पति = कुमार [illegible] के मा-बाँप। राज्य-विस्तार =

राज्य बढ़ाना। गण-मुख्य = गण का प्रधान। मण्डलीक = कमिश्नर। अधिकाधिक = समासीन। अभिलाषा = इच्छा। आतंक = भय।

(४७) भगवान् वासुदेव और.........कालिदास जन्म लें।

(पृ० १०६, पं० १७)

इन पंक्तियों में आचार्य विक्रममित्र अपने लक्ष्य की ओर संकेत करते हुए अपनी हार्दिक अभिलाषाएँ यवन-राजदूत हलोदर के सामने प्रकट कर रहे हैं। आचार्य के मन में एक ही अभाव है जो रह-रह कर उन्हें विचलित कर देता है उन्हें व्यथित कर देता है। वह है अवंती का उद्धार। शकों ने बौद्धों और जैनों के सहयोग से वहाँ के वैष्णव क्षत्री शासक को मार डाला और सारे देश में वह लूट-पाट मचायी कि मालवगण त्राहि-त्राहि करने लगे। कुमार विषमशील वहीं के राजकुमार हैं। हलोदर का विश्वास है कि आचार्य की यह अभिलाषा भी अवश्य पूरी होगी और उसका भी समय अब आया ही चाहता है। आचार्य भावावेश में अपने उस अभाव की कचोट व्यक्त करते हुए उस सुनहले भविष्य की कल्पना करते हैं जबकि वैष्णव गरुड़ध्वज की छाया में सारा उत्तरी भारत शान्ति, सुख और संतोष की साँस लेगा। एक चक्रवर्त्ती सम्राट् के अधीन रहकर वह इतना सशक्त, सबल और समुन्नत होगा कि किसी भी आक्रमणकारी को इस ओर आँखें तरेरकर देखने का साहस नहीं होगा। पुनः तपोवनों से वैदिक ऋचाओं का सस्वर पाठ उठकर सारे अंतरिक्ष में छा जायगा, मंदिर और घंटों के निनाद से दसो दिशाएँ गनगना उठेंगी और अनेक कालिदास राष्ट्र की इस पुनः जाग्रत आत्मा के अभिनन्दन में श्लोक और गीत लिखेंगे। भारत के खोये हुए संस्कार भस्मावृत्त चिनगारी की तरह पुनः चटक कर भमक उठेंगे और इतिहास में पुनः एक स्वर्णिम परिच्छेद का श्री गणेश होगा।

शब्दार्थ (पृ० १०७) :—महानता = बड़प्पन। श्रेय = कारण। आहार = भोजन। विश्राम = आराम। अतिथिशाला = अतिथियों के ठहरने का स्थान। उपहार = भेंट। मण्डावर = वासंती का यवन प्रेमी जो आचार्य के सैनिकों द्वारा मारा गया, शाकल का राजकुमार। पर्वत = पहाड़। निष्ठा = विश्वास और श्रद्धा। मैत्री = मित्रता। बंधु = भाई।

(४८) किसी भी महानता का श्रेय......अतिथिशाला में जाओ।

(पृ० १०७, पं० १०)

इन पंक्तियों में आचार्य विक्रममित्र यवन राजदूत हलोदर के उस कथन का कोमल प्रतिवाद कर रहे हैं जिसमें उसने आचार्य को हिमालय और समुद्र की तरह महान् और गंभीर बताया है। आचार्य एक परम वैष्णव के रूप में इन सारी महानताओं का श्रेय किसी व्यक्ति को नहीं, प्रभु की प्रेरणा को देने कहते हैं। उनकी धारणा है कि परम सत्ता ही व्यक्ति विशेष में नयी प्रेरणाएँ भरती है और उसे किसी विशेष सिद्धि के लिए निमित्त या साधन बना देती है। इसमें व्यक्ति का कोई श्रेय नहीं। वह अपनी इच्छा से न तो पैदा हो सकता है, और न मर सकता है, फिर कार्य कैसे करेगा? यह नास्तिक ही सोच सकते हैं कि व्यक्ति युग का निर्माण करता है, राष्ट्र को समुन्नत बनाता है। एक आस्तिक अपने को मात्र निमित्त समझता है, और यही यथोचित भी है—'निमित्त मात्र भवसव्यसायी' गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने भी कहा है। बौद्ध भ्रमवश अपनी सफलताओं का सारा श्रेय अपने आपको देते हैं। हम भागवत ऐसा सोच भी नहीं सकते। अचानक सेनापति को याद आता है कि यवन राजदूत सिर्फ स्नान कर ही सभा-भवन में पहुँच गये हैं। अपने प्रसंग को बहुत ही सुन्दर ढंग से मोड़कर वे राजदूत का ध्यान आहार की ओर आकर्षित कर रहे हैं। पर्याप्त विलंब हो चुका, राजदूत अपने मित्रों के साथ अतिथिशाला में जाकर आहार कर लें। यह वही आहार है जिसके लिए विश्व में इतने कुकर्म होते हैं। आहार न हो तो मनुष्य, मनुष्य न रहे, हिंसक पशु बन जावे। आहार सर्वश्रेष्ठ मानव धर्म है, इसी के चलते वह जीवन-धारण करता है। आहार का सम्बन्ध उतना ही होना चाहिये, जितना कि जीवन-धारण के लिए अनिवार्य हो। इसकी मात्रा बढ़ाने से भी मानव विकलांग हो जाता है—पेटू, लोभी और बुभुक्षित। इन पंक्तियों में आचार्य की वैष्णव भावना चरमोत्कर्ष पर पहुँची हुई दिखायी गयी है। वे विश्व के सारे फलाफल का श्रेय प्रभु की इच्छा को देते हैं।

शब्दार्थ (पृ० १०८-१०९) :—यथास्थान = उचित जगह पर। बहुमूल्य = बेशकीमती। अग्रभाग = सम्मुख। मूर्त्तरूप = कार्य रूप। कृतज्ञ = अनुगृहीत। पुष्करावती = आधुनिक पेशावर। तक्षणकला = पत्थरों पर खोदने या लिखने की कला। प्रसिद्ध = मशहूर। शिल्पी = जो पत्थरों में अपनी कलाकृति उपस्थित करता है। जड़ = निष्प्राण। कीर्ति = प्रसिद्धि। कोष = खजाना। प्रस्तर = पत्थर। अभिभूत = प्रभावित।

(४९) महत्त्व के विषय में……आपसे छूट नहीं सकते।

(पृ० १०९, पं० १५)

उद्धृत पंक्तियाँ गरुड़ध्वज के द्वितीय अंक से ली गयी हैं और इनमें तक्षशिला के यवन शिल्पी शीलभद्र (जो यवन राजदूत हलोदर के साथ विदिशा) आये हैं। कलाकर की रचनात्मक मनोदशा और उसकी प्रक्रिया पर प्रकाश डाल रहे हैं। कलाकार जब किसी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति, कार्य या पदार्थ से विस्मित होकर अभिभूत हो उठता है तो उसके मन में भाव उसका आकलन करने लगती हैं। इसी क्रम में उसके मानस में कुछ प्रतिच्छवियाँ उभर पड़ती हैं जिसको मूर्त्त रूप देने के लिए कलाकार छटपटा उठता है। उसे यदि वह बहुत अधिक आधार लेकर प्रकट करे तो स्थापत्यकला का सृजन होता है, यदि प्रस्तर खंड में प्रकट करे तो शिल्पकला, यदि रेखाओं और रंगों में अभिव्यक्त करे तो चित्रकला, यदि रागों में बाँध दे तो संगीत-कला और यदि शब्दों का परिधान पहना दे तो काव्यकला का निर्माण होता है। कलाओं के भेद उसके आधार और साधन पर निर्भर करते हैं, पर मूल भावना और प्रक्रिया एक ही है—कोई महत्त्व का विस्मय, किसी सत्य का प्रत्यक्षीकरण, किसी परोक्ष का आकलन। महत्त्व का विस्मय ही स्थापत्य कला में ताजमहल बनकर उतरता है, शिल्प में गोमतेश्वर की मूर्ति बनकर ढल जाता है, चित्रकला में 'मोनालिसा' बनकर निखर उठता है, संगीतकला में 'आसावरी' बनकर महत्त्वपूर्ण और काव्यकला में 'मानस' बनकर संश्लिष्ट हो उठता है। उस महत्त्व के विस्मय का आधार कोई युग-पुरुष होता है। शीलभद्र का कहना है कि इस युग के महत्त्व का आदर्श आचार्य स्वयं हैं। जब कभी

जब कोई कलाकार इस युग के महत्त्व का आकलन करेगा तो आचार्य विक्रममित्र औरउनका गरुड़ध्वज ही उसके प्रतिरूप होंगे। इसमें कोई अत्युक्ति नहीं। आप इस युग के महत्त्व से एकाकार हो उठे हैं।

शब्दार्थ (पृ० ११०) :—अंग = अंश। तांत्रिक = तंत्र या जादू-टोना माननेवाला। सम्मोहन = वशीकरण। सौम्य = आदर-सूचक संबोधन। भोग्य भोगने योग्य। निष्ठाःप्राप्ति = श्रद्धा प्राप्ति। क्रम = प्रक्रिया। अन्यथा = कोई दूसरा। मान्य = आदर योग्य।

(५०) यही तो क्रम है···ही रुक गयी होती। (पृ० ११०, पं० १७)

इन पंक्तियाँ में आचार्य विक्रममित्र कला की पूर्णता के साथ-साथ सृष्टि के स्वभाव पर प्रकाश डाल रहे हैं। कला के सभी भेद अपने आप में पूर्ण हैं, उनमें मूलतः कोई भेद नहीं। क्या काव्य, क्या संगीत, क्या चित्र, क्या शिल्प और क्या स्थापत्य—सभी अपने-अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण और गौरव-युक्त हैं। 'को बड़ छोट कहत अपराधू'। फिर भी शिल्पी शीलभद्र काव्यकला को श्रेष्ठतम ललितकला मानते हैं और यह इच्छा प्रकट करते हैं कि उन्हें भी कोई बौद्ध तांत्रिक वशीकरण के प्रयोग द्वारा विदिशा ले आता और आचार्य की छत्रच्छाया में पलकर काव्य कला का निष्णात पंडित बन जाता। इसी पर पंडित बन जाता। इसी पर आचार्य विक्रममित्र अपना मत प्रकट करते हैं कि काव्य और शिल्प—दोनों ही कारयित्री प्रतिभा के ही फल हैं। अवन्ती के उद्धार के बाद शिल्पी शीलभद्र और कवि कालिदास दोनों कलाकारों की कला की उपयोगिता प्रमाणित होगी—कम-से-कम उसे प्रमाणित करने का सुअवसर प्राप्त होगा। तुम्हारे शिल्प को कालिदास अभिव्यक्ति देंगे और कालिदास की वाणी को तुम्हारी कला शिल्प प्रदान करेगी। शीलभद्र अब तक तक्षशिला में योग्य भवनों का निर्माण कर रहे थे, अब परम भागवतों के नगर में देवत्व की निष्ठा में तल्लीन होंगे—इसकी सुखद कल्पना से ही वे पुलकित और गनगद हो उठते हैं। इसी पर आचार्य उन्हें सृष्टि-क्रम का बोध करते हुए कहते हैं—'कर्म का भोग, भोग का कर्म, यही जड़ का चेतन आनन्द।' विधि का विधान या सृष्टि की यह विशेषता ही है सौम्य। कि व्यक्ति जैसा कर्म करता है, वैसा ही भोग उसे भोगना पड़ता

है, और जैसा भोग वह करना चाहता है, वैसे ही कर्म की प्रक्रिया उसे अपनानी पड़ती है। अनन्त काल से यह क्रम चल रहा है, चलता जा रहा है, और जा रहा है, और चलता रहेगा भी। जिस दिन इस क्रम में परिवर्त्तन आयगा, व्यतिक्रम उपस्थित होगा, उसी दिन सुख की समुचित प्राप्ति, आनन्द की उपलब्धि समाप्त हो जायगी—और नहीं तो कम-से-कम उसकी प्रक्रिया में अन्तर आ जायगा। इन पंक्तियों में नाटककार मिश्रजी ने बड़ी ही कुशलता से रचना की श्रेष्ठता, उसके महत्त्व के साथ-साथ कलाओं की समानता पर प्रकाश डाला है।

शब्दार्थ (पृ० ११९-११५) :—उत्सुकता = जिज्ञासा। उद्वेग = शीघ्रता, जल्दीबाजी। दिनचर्या = प्रतिदिन का आचरण। प्रसन्न मुद्रा = प्रसन्न चित्त। रत्नजटित = रत्नों से जड़ा हुआ। शिरस्त्राण = सिर की रक्षा करने वाला, टोप। कार्तिकेय = देवताओं के सेनापति। वाहन = सवारी। भाव भंगी = मुद्रा, आकृति। असमंजस = सकपकाहट। व्यक्त = प्रकट। साक्ष्य = गवाही। भयभीत = डरकर। भग्न = तोड़ना। अंतरंग = अभिन्न।

(५१) इस चरण के छूटने पर···छूट जाऊँगा मैं। (पृ० ११५, पं० २)

द्वितीय अंक के अंत से ली गयी इन पंक्तियों में कवि कालिदास आचार्य विक्रममित्र से उस अवस्था का वर्णन कर रहे हैं जब कि वे काशिराज के कहने से काशी में ही जाकर रहने लगेंगे। आचार्य के प्रति कवि के मन की चिरसंचित श्रद्धा उमड़ आती है और उन्हें भय है कि आचार्य से दूर चले जाने के कारण कहीं उनकी अमूल्य काव्य-साधना का स्रोत ही न सूख जाय। वासंती ने गरुड़ध्वज के साक्ष्य में अपना हृदय कालिदास को दे दिया है और प्रतीक स्वरूप वीणा पर रखी गयी अपनी माला भी उनके गले में 'स्वामी' कह कर डाल दी है। दूसरी ओर स्वयं काशिराज उसकी प्रतिभा से अभिभूत होकर उसे अपना राज्य देकर निश्चित हो जाना चाहते हैं। इस प्रकार काशिराज, काशिराज्य और काशिकुमारी के त्रिकोणात्मक तंत्र में पड़ कर महाकवि को विदिशा छोड़कर काशी में ही रहना पड़ेगा। यह ठीक है कि काशी उनकी जन्मभूमि के पास है पर विदिशा तो उनका कर्मक्षेत्र और धर्मक्षेत्र—दोनों रही है। आचार्य काशिराज की किसी भी इच्छा

की अवहेलना नहीं करना चाहते। फिर भी वे समझते हैं कि कवि के अभाव में उनका अपना जीवन ही शून्यवत् हो जायगा। गजब का आकर्षण-विकर्षण है दोनों के मन में। कवि को तो आचार्य को छोड़कर और किसकी आवश्यकता है? वे उसके सभी कुछ रहे हैं—गुरु, माता, पिता, सखा, भगवान्—सब ही कुछ तो। इन चरणों से छूट कर तो निश्चय ही वह प्राण-शून्य बन जायगा। उधर आचार्य ने वचन भी दे दिया है। कवि ही इसका निदान भी निकलते हैं—स्वयं काशिराज विदिशा में ही रहें और काशी अवंती के अधीन रहे। इस प्रकार सभी कोई सभी किसी के पास ही रह जायँगे—कोई किसी से दूर नहीं जायगा। और राज्य से कवि को क्या लेना देना। वह कुमार विषमशील सम्हाल लेंगे।

शब्दार्थ (पृ० ११६-११७) :—वल्लरियों = लताओं। हवन-धूम = हवन का धुआँ। राजभृत्य = राज्य के अफसर। राजकीय = आफिसियल। पंक्तियों = कतारों। शिविर = खेमा। दस्यु = डाकू। गुप्तचर = खुफिया। सहस्र = हजार।

(५२) शत्रुओं के चारों ओर···सेवा के साथ हैं। (पृ० ११७ पं० ११)

इन पंक्तियों में महाकाल के मंदिर का त्रिपुंडधारी पुजारी राजकुमारी मलयवती और वासंती के हृदय से भय को दूर करता हुआ अवंती के स्वातंत्र्य-युद्ध का विवरण प्रस्तुत कर रहा है। महाकाल की कृपा से संकट टल गया, दस्यु शक हारकर भाग गये हैं, उनका सेनापति पकड़ा गया है। इस समय तक सब को यहाँ आ जाना चाहिये था, पर न जाने क्यों विलंब हो रहा है। इसी विलंब के कारण दोनों राजकुमारियाँ भयाक्रांत हैं। पुजारी उनको निश्चित करने के लिए युद्ध-व्यूह का विवरण देता है। शत्रुओं के चारों ओर जाल डाल दिया है। दक्षिण से मलयपुर और प्रतिष्ठान की सेना आक्रमण कर रही है, जिसके सेनापति वीर कुमार शातकर्णि और प्रसिद्ध पाण्डय धनुर्धर कार्तिकेश्वर हैं। पूर्व की ओर से अवंती, विदिशा और साकेत तक के माण्डलीक अपनी दुर्द्धर्ष सेना के साथ तैनात हैं। पूर्व और उत्तर की सेनाओं के बीच में करीब एक योजन दूर बीस सहस्र सैनिकों के साथ कुमार विषमशील खड़े हैं। उनके अंगरक्षक मान्धाता और मेघरुद्ध हैं। उन्हें वास्तविक युद्ध-क्षेत्र से दूर रखा गया है, इसीलिए कि जब जैसा मौका होगा, उनसे काम लिया जायगा। ये सभी सेनानायक अपूर्व कुशल सेनानी और

रणचतुर बाँकुरे हैं। राजकुमारियों की भी चिन्ता स्वाभाविक हैं। देश के इस स्वातंत्र्य-यज्ञ में उनके प्राण-सखा अग्निहोत्री का काम कर रहे हैं। किसी भी क्षण कुछ भी हो सकता है। नाटककार ने बहुत बारीक रेखाओं में मलयकुमारी के हृदय की हलचल को अभिव्यक्त किया है।

शब्दार्थ (पृ० ११८-१२१) :—अधिनायकत्व = सेनापतित्व, अधीन। पार्श्व = बगल। दबाव = जोर। संचालक = चलाने वाला। प्रतिष्ठा = अभिषेक। विकट = कठिन। अनिष्ट = बुरा। गणपरक विधान = गणतंत्रात्मक विधान। महादेवी = रानी के लिए आदर-सूचक संबोधन। विभूति = भभूत। सौम्यदर्शना = कुमार विषमशील की मां। बुहारूँगी = झाड़ू दूँगी, साफ करूँगी। मृत्युञ्जय = जो मौत को भी जीत चुका हो। अपवाद = कुप्रतिष्ठा।

(५३) रावण शिव का कितना बड़ा……थोड़ा मार्ग मिलेगा।

(पृ० १२१-१२२)

उद्धृत पंक्तियों में महाकाल के मंदिर के त्रिपुंडधारी पुजारी कुमार विषमशील की माता महादेवी सौम्यदर्शना को अवंती की स्वतंत्रता के लिए आश्वस्त करते हुए कह रहे हैं कि सुख और दुःख—दोनों की एक लहर होती है—एक ऋतु होती है। आज से दस मास पूर्व इसी अवंती-उद्धार के युद्ध में जैन कालकाचार्य ने कुमार विषमशील के पिता महेन्द्रादित्य की धोखे से निर्मम हत्या की थी। आज उसी अवंती के उद्धार का दूसरा युद्ध चल रहा है। सौम्यदर्शना का भय स्वाभाविक है, पर पुजारी रावण का दृष्टांत देकर उसका भय दूर कर रहा है। रावण शिव का बहुत बड़ा भक्त था, और उन्हीं की कृपा से दिग्विजयी सम्राट् बना तथा उसके पुत्र मेघनाद ने इन्द्र तक को पराजित किया। यह उसके सुख की ऋतु थी। पर जब ऋतु बदली तो उसकी दिग्विजयी भुजाओं और इन्द्रजीत पुत्र के रहते ही उसके सामने सोने की लंका जलकर खाक हो गयी। उसी तरह कालकाचार्य के भी दिन फिर गये हैं। जिस कालकाचार्य ने आज से दस मास पूर्व ही अवंती की स्वतंत्रता शकों के हाथों बेंच दी थी, आज उस ऋण की पाई-पाई चुकायी जा रही है, उसका बदला लिया जा रहा है। लाट के माण्डलीक परमवीर भीमराज की मार से त्रस्त होकर शक अवंती को तो छोड़ चुके और

अब नगर के बाहर के इस युद्ध में भी उनकी पराजय निश्चित है। आज सारा राष्ट्र तीन दिशाओं से इन शकों पर टूट पड़ा है—भागने के लिए एक ही सँकरा मार्ग है—पश्चिम में। वे दो पाटों के बीच पड़ गये हैं, चटनी बन जायँगे। इसलिए, पुजारी धैर्य देता हुआ कह रहा है—महादेवी, आपके दुर्भाग्य के दिन समाप्त हो चुके हैं, सौभाग्य का आलोक छिटकनेवाला ही है, महाकाल की कृपा से। विश्व की कोई भी शक्ति मेघ बन कर इस बालारुण पर छा नहीं सकती। घबरायी हुई सौम्यदर्शना को ढाढ़स देने के लिए पुजारी ने बड़े ही सशक्त एवं विश्वासोत्पादक शब्दों का प्रयोग किया है।

शब्दार्थ (१२२-१२४) :—भरोसा = विश्वास। शिविर = खेमा। प्रस्थान = चला जना। विश्राम = आराम। स्वस्थ = तन्दुरुस्त। आकृति = चेहरा। धूमिल = मलिन। युद्धभूमि = लड़ाई का मैदान। धर्मालाप = धर्म चर्चा। चित्त = मन। निष्ठा = श्रद्धा, विश्वास। तथागत = भगवान बुद्ध। रक्तपात = खून-खराबी। कबन्ध = सर-रहित धड़। ठेलना = परे हटाना, धक्का मारना।

(५४) हिंसा और रक्तपात भी······जीवन ही मिटा देते हैं।

(पृष्ठ १०४, पंक्ति ११)

इन पंक्तियों में काशिराज अपने मन की उस हलचल को व्यक्त कर रहे हैं जो कि इस महान् राष्ट्र-यज्ञ की पूर्णाहुति के अवसर पर उन्हें अस्थिर कर रही है। कल मातृभूमि के लिए इसी महाकाल के मंदिर में जब वीर अपनी जान की बाजी लगा देने की शपथ ले रहे थे, तब जन्म से बौद्ध और वयस से वृद्ध काशिराज की भी भुजाओं में बिजली कड़क उठी थी। अभी-अभी वे युद्धक्षेत्र से थके हुए लौटे हैं। वासंती जानना चाहती है कि काशिराज ने भी युद्ध में तो भाग नहीं लिया। काशिराज का कलेजा कचोट उठता है—जब युद्ध-क्षेत्र में भाग लेने की अवस्था थी तो वे काषाय धारण कर 'बुद्धं शरणं' का जाप कर रहे थे, भिक्षुओं के साथ धर्मालाप करते फिर रहे थे—अब इस वयस में युद्ध? तलवार भी अभ्यास चाहती है, कौशल और क्षिप्रता चाहती है। संपूर्ण उत्तराखंड के वीरों को इस अवंती-उद्धार के युद्ध में भाग लेते देखकर मन चंचल हो उठा—

जरा—भारतवर्ष की संपूर्ण वीरता का निदर्शन देखा जाय। धन्य है वह राष्ट्र जिसकी स्वतंत्रता के लिए सभी वीर सन्नद्ध हों, और धन्य हैं वे वीर जो राष्ट्र के लिए समवेत रूप से सर्वस्व होम कर देने को प्रस्तुत हों। काशिराज को मलाल है—एक वही हैं जो इस पुण्य से वंचित हैं आज। वासंती को अपने पिता के इस धर्म-परिवर्त्तन पर आश्चर्य हो रहा है और वह एकबार अपने पिता को समझाती भी है—रक्तपात और हिंसा अंततः बुरी चीज है—वर्ज्य है। इसी पर काशिराज कहते हैं—हमारी ही बेटी हमें अब धर्म और आचरण का पाठ पढ़ा रही है—ना, ना,—मैं अब अपनी पुत्री का शिष्यत्वग्रहण नहीं करूँगा। मेरी ही उम्र का भीमराज शत्रुओं के लिए काल बन कर टूट पड़ता है—उसके हुंकार से ही शत्रु-सेना काई की तरह फट कर तितर-बितर हो जाती है। जिधर मुड़ जाता है, उधर लाशें पट जाती हैं। कभी-कभी रक्तपात और हिंसा, जाति-जीवन की रक्षा, राष्ट्र की रक्षा और संस्कार की रक्षा के लिए अत्यावश्यक हो जाते हैं। जो देश रक्तपात और हिंसा से बचना चाहता है, उसकी स्वतंत्रता किसी भी क्षण छीन ली जा सकती है। स्वतंत्रता देवी के चरण गंगाजल से नहीं, वीरों के रक्त से ही पखारे जाते हैं।

शब्दार्थ (पृष्ठ १२५-१३१) —कल्याणी = स्नेह-सूचक संबोधन। औषधि = दवा, निदान। शुभ वेला = सौभाग्य सूचक मुहूर्त्त। रुद्र = भयानक। दर्प = अभिमान। कलंक = दोष। सद्य = शीघ्र। प्राणकरी = प्राण डालने वाली। योग = मेल। फट पड़ना = खुल जाना। संकेत = इशारा। असभ्य = बर्बर। रोगशय्या = वह बिछावन जिस पर रोगी लेटता है। आयुर्वेद = वैद्यक-सम्बन्धी बातें जिस वेद में हैं। यमलोक = यम की दुनिया, मृत्युलोक। चर = खुफिया। परिस्थिति = हालत। विकट = कठिन। कुचक्र = षड़यंत्र। देशद्रोही = देश के विरुद्ध आचारण करने वाला। अनार्य = जो आर्य न हो। दूषित = दोष-पूर्ण। पारिषद = परिषद् के सदस्य। संघस्थविर = बौद्ध विहार के पुजारी। आक्षेप = लांछन। मोहिनी = मोह लेने वाली विद्या। स्थिरता = थिर हो जाना। पिशाच = राक्षस, भूत। सनातन = परंपरागत। विवश = लाचार।

(५५) मातृभूमि और जातीय गौरव······पवित्र भूमि जो बार-बार।

(पृ० १३१, पं० २)

उद्धृत पंक्तियों में बौद्ध और वृद्ध काशिराज राष्ट्र के स्वातंत्र्य-यज्ञ में सक्रिय भाग न ले सकने के कारण क्षोभ से पूर्ण होकर अपने मन की भावनाओं को प्रकट कर रहे हैं और इसी क्रम में बौद्धों की विश्वमैत्री और पंचशील के सिद्धांतों की मीठी आलोचना करते हैं। काशिराज का मन इस ग्लानि से भरा है कि जहाँ देश के सभी वीर सेनानी राष्ट्र-रक्षा के लिए अपने प्राणों की आहुति देने को तत्पर हैं, वहाँ बौद्धों और जैनों ने देशद्रोह का काम किया। पहले तो अहिंसक बनते हैं, फिर विश्वमैत्री के सिद्धांत का अनुसरण करते हुए अपने-पराये में भेद नहीं रखने की शेखी बघारते हैं, और बाद चल कर काषाय के नीचे कटार लेकर धोखे से आक्रमण करते हैं और पराये के लिए अपनों का संहार करते हैं। कालकाचार्य जैन और बौद्ध भैरवघोष को काषाय के साथ-साथ भल्ल धारण कर राष्ट्रीय सेना के पीछे से आक्रमण करने की योजना का पता सबसे पहले उन्हें ही लगा था, और उसी समय उनकी आँखों पर से असत्य की पट्टी हट गयी थी। इसीलिए आवेश में वे व्यंग्य करते हुए बौद्धों की अराष्ट्रीय निष्ठा की चर्चा करते हैं। इनकी दृष्टि इतनी विस्तृत हो गयी है कि जिसके स्तन का दुग्ध-पान करते हैं, उसी मातृभूमि की पीठ में छुरा भोंकते हैं—वसुधैव कुटुम्बकम के नाम पर। जिस राष्ट्र की धूलि में लोट-लोट कर बड़े हुए हैं, उसी के प्रति द्रोह करने में ये लज्जा और ग्लानि तक को धो-पोंछकर पी गये हैं—विश्वमैत्री के नाम पर। राष्ट्र पर आक्रमण करने वालों के सामने ये करुणा का पाठ दोहराते हैं—भगवान् बुद्ध के नाम पर; और फिर आक्रमण-कारियों का सामना करने वाले राष्ट्रीय वीरों पर पीछे से आक्रमण करते हैं—बौद्ध धर्म के नाम पर। गजब हैं ये बौद्ध! और गजब है इनका बौद्ध धर्म। जब से इस धर्म का प्रवर्त्तन हुआ, तभी से यह राष्ट्र दुर्बल और नपुंसक बना, और तभी से इस देश की छाती पर विदेशियों के नाल-जड़े जूते चर्रमर्र करने लगे। आर्यों की यह पुण्यभूमि 'स्वर्गादपि गरीयसी' यह मातृभूमि अनार्य यवन और पिशाच शकों द्वारा रौंदी गयी और हम यह सब दुखपूर्वक देखते रह गये—अहिंसा, धर्म, बुद्ध

और संघ के नाम पर। काशिराज जन्म-जात बौद्ध, आज पूरी तितिक्षा से बुद्ध और संघ-धर्म पर थूक रहे हैं।

शब्दार्थ—(पृ० १३२)—उद्देश्य = लक्ष्य। दंभ = अहं। शिखर = चोटी। देशद्रोही = देशघातक। जयघोष = विजय का उच्चारण। आक्रमण = चढ़ाई। विश्वासघात = विश्वास का हनन। सहस्र = हजार। कुमारी नवयुवती। शृंगार = सजावट। दुर्दशा = बुरी दशा। कुपित = क्रुद्ध। विध्वंस = विनाश। मनस्ताप = मन की जलन। भविष्य = आगे। दुराग्रह = हठ।

(५६) विश्वासघात से ही अवंती का.........कवच में घेर कर।

(पृ० १३२, पं० ८)

इन पंक्तियों में अवंती के राजकुमार विषमशील अपने देश पर शकों के आक्रमण, उसके कारणों, उनके द्वारा किये गये विनाश और उन सब का अपने मन पर हुए संगठित प्रभाव का वर्णन कर रहे हैं। अवंती का पतन असम्भव था। ये शक तो क्या, इनके हजारों पूर्वज भी आकर इससे टकराते तो अवंती का कुछ नहीं बिगड़ता। इतनी सुसंगठित शासन और रक्षा-पंक्ति थी इसकी। पर एक विभीषण के चलते–विश्वासघाती के कारण उसका सर्वनाश हुआ। तेरह वर्षों तक उसके पिता ने अपने राज्य-काल में इस महानगरी का जो शृंगार किया था, इन बर्बर शकों ने यहीं के देशद्रोहियों के कारण उन्हीं के सामने उसे ध्वस्त कर पूरा का पूरा निर्वसन कर दिया। फिर जो लूट-खसोट, दंशन-उत्पीड़न उसकी नंगी छातियों पर होता रहा--उसे देखकर तो रोंगटे खड़े हो जाते थे। अग्निदेव क्रुद्ध होकर एक क्षण में उसे जला देते और उससे भी वीभत्स दृश्य उपस्थित कर देते तो मुझे कष्ट नहीं होता। पर एक विदेशी आक्रमणकारी मातृभूमि को निर्वसन कर, उसकी लाज लूटे और उसके जैन और बौद्ध सपूत ठहाके लगावें—यह कितनी लज्जा और ग्लानि की बात थी। कुमार विषमशील तत्कालीन मनोदशाओं का विवरण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—मैं तो किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो गया था—मानव की सद्भावनाओं तक में अपना विश्वास और निष्ठा खो चुका था। एक बंदी क्रुद्ध सिंह जिस प्रकार अपने दांतों से पिंजड़े के छड़ों को काटने लगता है, वही मेरी हालत थी। सारा यौवन, वीरत्व, उत्साह और साहस जैसे कसमसा कर रह जाते

थे और पानी के छींटे पड़ने पर दूध की उफान के सदृश तल तक पहुँच कर खेद बढ़ाने लगते थे। मैं समझ ही नहीं पाता था--मनुष्य भी इतना पैशाचिक कार्य कर सकता है? पिशाच बन जा सकता है? मैं नहीं जानता, मेरी क्या अवस्था होती कि आचार्य विक्रममित्र की प्रलंब बाहुओं ने मेरा उद्धार किया और अपने ममत्वपूर्ण हृदय से साट कर मुझे आश्वस्त किया--खोये हुए विश्वास को लौटाया और वह प्रेरणा भरी कि मां के शृंगार उतारने वाले के हाथ आज काट लिये गये, देशद्रोहियों की छाती के उष्ण रक्त से, उसके ललाट पर विजय-तिलक लगाने का सुअवसर आ सका।

शब्दार्थ—(पृ० १३३-१३६)—राजकौशल = युद्धनिपुणता। राज-योजना = युद्ध की चाल। अनुकूल = अनुसार। भल्ल = भाला। विषाक्त = विष में बुझे। अलौकिक = दैवी। गज = हाथी। अश्व = घोड़ा। वाहन = सवारी। जूझ मरना = भिड़ कर मरना। उद्धारक = उद्धार करनेवाले। यश = श्रेय, प्रसिद्धि। कामना = इच्छा। लीन = डूबा। पराभूत = विजित। मुक्ति-सेना = स्वतंत्रता के लिए युद्ध करनेवाली सेना। भस्म = जलकर खाक। रुद्र = महादेव। प्रत्यंचा = धनुष की डोरी। गजातिक = गज-सेना। अनायास = बिना परिश्रम के। पृथक् = अलग। आरोहियों = सवारों। पदातिक = पैदल सेना।

(५७) इन्होंने अपना नाम······इन्होंने काट दी।

(पृ० १३६ पं० नीचे से ७)

इन पंक्तियों में कुमार विषमशील युद्ध का विवरण देते हुए कह रहे हैं कि भैरवघोष ने अपने सभी हाथियों को मद्य पिलाकर स्वयं इतना पी लिया कि उसकी आँखें लाल-लाल अंगारों के समान दहक रही थीं। न जाने कैसे संकेत पर वन के वृक्षों को उखाड़ते-तोड़ते-फाड़ते हाथियों के दल के दल हमारे सामने आ गये और इस तरह व्यूह बना कर खड़े हो गये कि जहाँ तक देखो, सिर्फ मतवाले हाथी ही थे। हमारे सामने क्षण भर में अन्धेरी रात का-सा दृश्य उपस्थित हो गया। कुमार विषमशील का पहला बाण भैरवघोष के कंठ में लगा और उसका सर, धड़ से अलग हो गया। मारुधावा के बाणों की मार से हाथियों की सूँड़ कट-कट

कर गिरने लगी। पहली पंक्ति के कुछ पन्द्रह-सोलह हाथी अपने आरोहियों के साथ गिरे और मद्य के आवेश में जो पीछे घूमे तो फिर रुक न सके। अपने ही सैनिकों को रौंदते हुए जिधर से आये थे, उधर ही भाग चले। उधर दक्षिण मोर्चे पर कार्तिकेश्वर शत्रुओं के रथ और पैदल सेना को दुर्भेद्य दीवार की तरह रोके खड़े थे। कालकाचार्य—देशद्रोही कालकाचार्य पूर्व की ओर से बढ़ रहा था और उसका सामना कवि मेघरुद्र कर रहे थे। कवि का युद्ध दर्शनीय था। इनकी उंगलियाँ आज फौलाद की-सी बन गयी थीं, इनका रूप एकदम रौद्र था और बाणों की बौछार इस तरह हो रही थी, जैसे अग्नि-वर्षा हो। जब तक कुमार इनकी सहायता को पहुँचे, तब तक कवि कालकाचार्य के रथ को तोड़-फोड़ चुके थे, घोड़ों को मार चुके थे और उसके धनुष की डोरी तक कट चुकी थी। कालकाचार्य का वध निश्चित था कि मान्धाता पहुँच गये और देशद्रोही को भाग जाने का अवसर मिल गया। कालकाचार्य वीर के साथ-साथ विद्वान् भी है, मेघरुद्र वीर के साथ-साथ कवि भी हैं—दोनों की अच्छी भिड़न्त रही।

शब्दार्थ (पृ० १३७) :—निष्फल = व्यर्थ। धिक्कार = लानत। महावीर = महारथी। शेष-उद्धार = शेष मुक्ति। मीननगर = शकों के अड्डे। क्षत्रप = शकशासक। भस्म = जलाना। ओज = एक शब्द-गुण। विध्वंस = विनाश। निर्देशक = राह दिखानेवाले। कवच = देह की रक्षा के लिए लोहे का आवरण। अनुरक्ति = प्रेम।

(५८) "इस पुण्यभूमि का ऋण था······बाणों का काम होगा।

(पृ० १३७, पं० १२)

इन पंक्तियों में कवि कालिदास अवंती-युद्ध की समाप्ति पर कुमार विषमशील की भावी योजना पर प्रकाश डाल रहे हैं। अवंती के उद्धार का श्रेय तत्कालीन भारतवर्ष के सभी महावीरों पर है। उन्होंने एक जुट, एक मत और सुसंगठित होकर शकों से लोहा लिया और उन्हें खदेड़ मारा है। विषमशील के पिता की हत्या का बदला एक-एक पाई में भँजा लिया गया है। कुमार कृतज्ञता के भार से झुके जा रहे हैं और उन्हें सूझ नहीं पड़ता कि वे कैसे इन महावीरों का ऋण चुका सकेंगे। कालिदास बीच में ही बोल उठते हैं—कुमार, पुण्यभूमि का ऋण

था इन महावीरों पर जिसे उन्होंने अपना शोणित देकर चुकाया है। यह उस माता का ऋण था जिसने उनलोगों को जन्म, विकास दिया, प्रगति और समृद्धि दी। लाट के माण्डलीक भीमराज और शातकर्णि तथा पाण्ड्य धनुर्धर सभी उस मातृऋण से आज उऋण हुए हैं। अब अवंती के उद्धार में सहायक बनकर इनका ऋण तथा आपका अपना मातृ-ऋण—दोनों से आपको उऋण होना है। यह तभी हो सकेगा जबकि एक-एक शक को धराशायी कर आप अवंती के अपमान का समुचित बदला लें और उनके गढ़ मीननगर को ध्वस्त कर इन शक शासकों को समुद्र में फेंक दें। जबतक आपके वाणों से यह कार्य सम्पन्न नहीं होता, तब तक आप न तो मातृऋण से उऋण हो सकते हैं और न इन महावीरों के ऋण से। इन महावीरों ने अपनी मातृभूमि के प्रति अपने कर्त्तव्य को पूरा किया है, अब आपकी बारी है। कहने का अर्थ यह कि कालिदास के दृष्टिकोण से अवंती-उद्धार के बाद चुप नहीं बैठ जाना है, यह अवांछनीय है। बल्कि पुनः सशक्त होकर सदलबल इन शकों पर टूट पड़ना है और मातृभूमि को उनकी उपस्थिति तक से मुक्त कर देना है। कवि कालिदास कुमार विषमशील के सम्मुख एक गंभीर उत्तरदायित्व उपस्थित कर रहे हैं।

(५९) महाकाल के सामने……मेरी भी होगी। (पृ० १३७-१३८)

इन पंक्तियों में अवन्ती युद्ध के पश्चात् अवन्ती राजकुमार विषमशील अपने अभिन्न मित्र कवि कालिदास के उस कथन का उत्तर दे रहे हैं जिसमें उन्होंने कुमार के सम्मुख मातृऋण और अवन्ती-युद्ध में संघर्ष करने वाले महावीरों के ऋण से उऋण होने की बात उठाकर कुमार के सामने उनके कार्यों की भावी योजना उपस्थित की है। कुमार विषमशील सभी महावीरों, बन्धु-बांधवों के सम्मुख महाकाल की मूर्ति के सामने प्रतिज्ञा करते हैं कि मैं मातृऋण और महावीरों के ऋण से उऋण होने के लिए तो शकों पर आक्रमण कर शेष मातृभूमि का उद्धार करूँगा ही, साथ-ही-साथ कवि कालिदास के मित्र-ऋण से उऋण होने के लिए मैं उन शक क्षत्रपों से ऐसा दुर्द्धर्ष युद्ध करूँगा कि कवि की वाणी को नया ओज मिलेगा, नयी दीप्ति मिलेगी। और फिर मैं ऐसा क्यों न करूँ जब प्रेरक रूप में कवि कालिदास की वाणी, लक्ष्य रूप में आचार्य विक्रममित्र का व्यक्तिगत त्याग और बलिदान,

निर्देशन-रूप में भीमराज और कार्तिकेश्वर के वे अमोघ शस्त्रास्त्र और शातकर्णि और मान्धाता के प्रेम का कवच—सभी मेरे साथ हैं। और सबसे अंत में वृद्ध काशिराज में जो आज जातीय परम्परा के प्रति एक गंभीर निष्ठा और अनुरक्ति जगी है—वह तो मेरे ललाट पर का सबसे अधिक चमकता हुआ विजय-तिलक है। इन पंक्तियों में कुमार विषमशील ने देश के महावीरों के प्रति अपनी कृतज्ञता भी ज्ञापित की है तथा भावी योजना की सफलता के लिए उनके आशीर्वादों की आकांक्षा भी प्रकट की है। नाटककार ने इस जगह बड़े ही कौशल, शालीनता और गरिमा से युक्त वाणी में कुमार विषमशील की उच्च संस्कारोचित भावनाओं को अभिव्यक्ति दी है।

शब्दार्थ (पृ० १३८) :—विभूति = ऐश्वर्य। श्री = शोभा। कण्ठ = गरदन। प्रणत = झुके।

(६०) किन्तु तुम दोनों ब्राह्मण···विष्णु और शिव है। (पृ० १३८-१३९)

इन पंक्तियों में आचार्य विक्रममित्र कुमार विषमशील को महाकाल के सम्मुख प्रणत होने को कह रहे हैं, फिर जाकर माँ के चरण स्पर्श का निर्देश करते हैं और कहते हैं कि यह इन श्री-चरणों का ही प्रभाव है कि तुम इस युद्ध में विजयी हुए हो। आचार्य कवि कालीदास और मान्धाता को कुमार के साथ माँ तक पहुँचा आने का निर्देश करते हैं कि शातकर्णि और कार्तिकेश्वर यह बोल उठते हैं कि आज उनकी भी इच्छा हो रही है कि वे राजमाता सौम्यदर्शना के चरण-स्पर्श करें। आचार्य जातीय परम्परा और शील की चर्चा करते हुए कहते हैं कि तुम दोनों ब्राह्मण हो और वैदिक विधान में ब्राह्मण हमेशा से पूजनीय रहे हैं। माता सौम्यदर्शना क्षत्रिय हैं और उनके लिए एक ब्राह्मण बालक भी विष्णु और शिव के अवतार हैं। यहाँ तक कि कुमार के अभिन्न मित्र कालिदास भी उन्हें आशीर्वाद ही देते हैं। आचार्य विक्रममित्र तो वैष्णव मर्यादावादी हैं, अतः वे किस तरह आचार्य शातकर्णि एवं कार्तिकेश्वर की राजमाता के सम्मुख अवनत होने की अनुमति दें? यह तो उनके संस्कार और मर्यादा के प्रतिकूल रहेगा।

शब्दार्थ (पृ० १३९-१४०) :—सुलभ = आसानी से प्राप्त। आततायी = अत्याचार। पराक्रम = प्रताप। वृद्ध = बूढ़ा। स्नायुजाल = नसों का जाल,

तंतुजाल । तमतमा = कड़ा हो जाना । बन्दी = कैदी । निर्वाण = मुक्ति । पश्चाताप = पछतावा । झंझट = उधेड़बुन । प्रभुता = बड़प्पन । वंचित = मुक्त होना, छूट जाना । आसक्ति = प्रेम ।

(६१) यह देश मेरा उद्धार···निर्वाण मिल जायेगा । (पृ० १३९-१४०)

इन पंक्तियों में आचार्य विक्रममित्र काशिराज द्वारा की गयी प्रशंसा का विरोध करते हुए कहते हैं कि प्रशंसा उन्हें रुचती नहीं । पहले भी उन्होंने इस युग का दिया गया सारा श्रेय लौटा दिया है और वे सदैव स्तुति से बचते रहे हैं । वे कहते हैं कि उन्होंने राष्ट्र का उद्धार नहीं किया, उल्टे राष्ट्र ने ही उनका उद्धार किया है । वे तो मात्र सेवक हैं और सेवक ही बना रहना चाहते हैं । राष्ट्र का उद्धार तो उनका कर्त्तव्य है, राष्ट्र की सुरक्षा, शांति और स्वतंत्रता-रक्षा उनका इस देश का नागरिक होने के नाते लक्ष्य है, ध्येय है । आदर्श शासक के यही तो कर्त्तव्य हैं । वह अपने देश को देवी समझता है, उसकी आराधना करता है । जो शासक देश को कामिनी समझकर उसका उपभोग करता है, वह सत्यानाश को प्राप्त होता है । देश स्वतंत्र रहे, सुखी रहे सुरक्षित रहे—यही शासक की सायुज्य मुक्ति है । इस विजय का सारा श्रेय उस परमात्मा को है जिसके आदेश पर यह सृष्टि बनती-बिगड़ती है, जिसके संकेत पर निर्माण और विनाश होता है और जो समस्त सृष्टि का सूत्रधार है । मानव तो उसकी एक कठपुतली भर है, नाचने को आया है—कुछ कार्य कर चला जायगा । यह कार्य देश और राष्ट्र के लिए हो, जाति और सम्प्रदाय के लिए हो—इससे बढ़कर और सौभाग्य क्या होगा । कठपुतली में यह राष्ट्रहित की चेतना भी तो वही परमात्मा देता है—नहीं तो इस देश में विभीषणों की कोई कमी थी, या है ? आचार्य विक्रममित्र ने अपने अहं को इस प्रकार राष्ट्र-हित में निमज्जित कर दिया है कि अब कोई श्रेय, कोई प्रशंसा उन्हें आकर्षित नहीं कर पाती । वे राष्ट्र से तदाकार हो गये हैं—एक रूप हो गये हैं । यही उनका मोक्ष है !

शब्दार्थ (पृ० १४१) :—निष्फल = निष्प्रयोजन, व्यर्थ । लेशमात्र = रंच-मात्र । कटूक्तियाँ = व्यंग्य । द्रवित = पिघलना, विगलित । आपत्ति = एतराज ।

(६२) **क्यों कालिदास की ओर……सब ओर भर जाय।**

(पृ० १४१, पं० ७)

इन उद्धृत पंक्तियों में काशिराज आचार्य विक्रमसित्र से कवि कालिदास की भीख माँगते हुए उनके प्रति अपनी मनोभावनाओं को व्यक्त कर रहे हैं। उन्हें कालिदास के संपूर्ण व्यक्तित्व ने इस हद तक अभिभूत कर लिया है कि अब साथ-साथ उठते-बैठते वे उन्हीं के निकट सान्निध्य का सपना देखते रहते हैं। वे स्वयं नहीं समझ पाते उनका मन क्यों इस तरह का हो गया है, क्यों एकबारगी ही वे इस प्रकार कालिदास की ओर झुक गये हैं। वे यहाँ तक कहते हैं कि वे स्वप्न में भी कालिदास को वासंती के हास-विलास, क्रीड़ा-केलि करते हुए देखते हैं और अपने पितृत्व की सारी ममता से उसके अंगों का प्रक्षालन करते हैं— स्नेह से नहलाते रहते हैं। कालिदास ने इस प्रकार उन्हें अभिभूत कर लिया है कि अब उनको छोड़कर उनके दिमाग में और कुछ आता ही नहीं। काशिराज को वह दिन याद आता है जब कि कालिदास निर्भय, सिर्फ एक अंगरक्षक लेकर उनके भवन में आये और उत्तेजित मंत्रियों और तार्किक बौद्धों को किस शांति और शलीनता से मूक कर दिया और फिर राष्ट्र-गौरव और कर्त्तव्य की भव्यता का चित्र खींचकर ऐसा अभिभूत कर दिया कि पलड़ा ही पलट गया। आज काशिराज और वहाँ की जनता का जैसे कायाकल्प ही हो गया है। कालिदास का प्रशांत सागर-सा गंभीर हृदय कभी उद्वलित नहीं हुआ और हिमालय-सी भव्यता कटूक्तियों की मार खा-खाकर भी अडोल रही। सारा वातावरण वहाँ कालिदास की प्रतिभा की सुगंधि से मँह-मँह कर रही थी।

शब्दार्थ (पृ० १४२) :—धागा = डोरी। गर्त = खाई, शून्य। असह्य = नहीं सह सकने योग्य। छुट्टी = अवकाश। लगाव = सम्बन्ध। उन्मादग्रस्त पागलपन से ग्रस्त, पागल।

(६३) **मनुष्य का विकार मुझमें……गर्त बन जायगा। (पृ० १४२, पं० ६)**

इन पंक्तियों में आचार्य विक्रममित्र द्वारा अपने मन की वे भावनाएँ प्रकट की गयी हैं जो कि कालिदास के वात्सल्य में पगी और उनके स्नेह में सराबोर हैं। काशिराज कवि कालिदास की भीख माँग रहे हैं। निस्पृह आचार्य इतना

मोहाच्छन्न हो जाते हैं कि उनका स्वर भारी हो जाता है और वात्सल्य के इस कच्चे धागे के टूटने मात्र की आशंका से व्याकुल हो उठते हैं। काशिराज इसे ताड़ जाते हैं और आश्चर्य प्रकट करते हैं कि बाल ब्रह्मचारी के मन में भी एक उद्धत बालक के लिए इतना ममत्व। इस पर आचार्य कहते हैं—यह मनोविकार है, और मनुष्य अंततः है क्या ? मनोविकारों का आल-जाल ही तो। ये विकार ही मनुष्य को मनुष्य बनाये रखते हैं, नहीं तो वह पशु से भी हीन हो जाय। पशुओं में ये मनोविकार नहीं रहते। आचार्य स्वीकार करते हैं—वे मनुष्य हैं, इसीलिए उनमें विकार हैं—वह भी किसके प्रति ? जिसे अपनी सारी नसों को दुहकर, अपने वात्सल्य की एक-एक बूँद निचोड़ कर दे दिया, जिसकी स्थिति से विगत १५ वर्षों से अपने आपको इतना एकाकार कर दिया, उसके प्रति अपनी भावनाओं को कैसे मार सकेंगे वे। ऐसा व्यक्ति जब उनके जीवन से निकल जायगा तो सारा संसार सूना-सूना-सा दिखायी पड़ने लगेगा। ऐसा लगेगा कि जैसे उनके कलेजे का एक टुकड़ा ही कोई नोंच कर, लुचक कर ले भागा। एक खोखली शून्यता में उनका जीवन तिरता रह जायगा। इस अभाव की पूर्त्ति वे किस प्रकार कर पावेंगे—आचार्य समझ नहीं पाते। वे भावाकुल हो उठे हैं, उनका कंठ अवरुद्ध-सा हो गया है। आश्चर्य होता है—जो व्यक्ति बाहर से चट्टान की तरह दीखता है उसके अंदर भी कहीं शीतल झरना का सोता है क्या ? इस व्यक्ति का निर्माण ही जैसे फूलों के फेन और कुलिश के रज से हुआ है।

(६४) **तेरह वर्ष और बस सौ······और यदि महाकाल।**

(पृ० १४२, पं० १७)

इन पंक्तियों में आचार्य विक्रममित्र अचानक आश्वस्त काशिराज से कुछ ऐसी बातें बोलते हैं जिससे कि कालिदास को लेकर उनका दिल न टूट जाय। आचार्य जैसे अपने मन से ही जूझ रहे हों, कालिदास को लेकर रस्सा-कशी कर रहे हों। पर जिस व्यक्ति ने अपने अहं को दूसरों के हित के लिए तिरोहित कर दिया है और जो अब सत्तासी साल की उम्र पार कर चुका है—उसे इन सभी माया-मोहों से छुट्टी ले ही लेनी चाहिये। ऐसी छुट्टी जिसमें किसी के प्रति कोई मोह न हो, अपने-आपके प्रति भी कोई लगाव न हो। आचार्य काशिराज से कहते हैं—ले

जाइये कवि को, जिसे विगत पन्द्रह वर्षों से अपनी देह की सन्तान की तरह अपने वात्सल्य के अँगोछे में लपेटकर पालता रहा हूँ, उसका भी दान कर देने पर मुझे शोक नहीं होगा। वल्कि आनन्द ही होगा—इसलिए कि मोह का यह अंतिम धागा भी टूट रहा है—अपने ही हाथों तोड़ रहा हूँ। काशिराज, आप कुमार विषमशील से बातें करें। वे भी यदि कालिदास का त्याग कर पावें। खैर, वे मुझसे पूछने आवेंगे और मैं आपके पक्ष में अपनी राय दूँगा। और यदि महाकाल की कृपा हुई तो कालिदास आपका।

शब्दार्थ—पृ० १४३—व्यवस्था = प्रबन्ध। प्रसन्नता = खुशी। आचरण = व्यवहार। सम्मान = आदर। प्रेरणा = मन की उमंग।

(६५) आज की प्रसन्नता में शंका भी क्या······अपनी कामना कह दो।

(पृ० १४३, पं० ६)

उद्धृत पंक्तियों में आचार्य सेनापति विक्रममित्र वृद्ध काशिराज को अपने जामाता के रूप में कालिदास को ग्रहण करने की अपनी ओर से स्वीकृति दे देते हैं। पर काशिराज को ऐसा लगता है कि यह स्वीकृति देने में आचार्य के कलेजे का एक टुकड़ा निकल गया हो, उनका समूचा कलेजा मुँह को आ गया हो। इसलिए कुछ-कुछ अविश्वास के स्वर में काशिराज पूछ बैठते हैं—'प्रसन्नता से कह रहे हैं आप?' वारम्बार वे आचार्य के मुख की ओर ताकते हैं और वहाँ दुःखातिरेक की लकीरें देखते हैं। इसीलिए यह शंका उनके मन में है। आचार्य अंतिम रूप से शंका का निवारण करते हुए कहते हैं—अवश्य प्रसन्न हूँ मित्र। हमारी प्रसन्नता का चरमोत्कर्ष इस अवंती-उद्धार में निहित है। उससे बढ़कर मेरे लिए प्रसन्नता की और कौन-सी बात होगी? आज सम्पूर्ण उत्तराखंड आततायियों के पद दलन से मुक्त हुआ है। आज मेरे लिए कोई भी वस्तु अदेय नहीं। आचार्य किंचित् मुस्कराते हुए पुनः अपने हृदय की वेदना को स्पष्ट करते हैं। विना त्याग किये वास्तविक प्रसन्नता नहीं होती। लोग समझते हैं—धन में, सम्पत्ति में, संतान में ही वास्तविक सुख है। हमारे वे ऋषि मूर्ख नहीं थे, जिन्होंने कहा था—'धनात् धर्मं ततः सुखं।' धर्म? त्याग ही तो है। आचार्य के हृदय में कालिदास के लिए जो प्रेम है, वह उनके सम्पूर्ण जीवन की निधि है।

उतनी उत्कंठा से उन्होंने अपने आपको भी नहीं चाहा। कालिदास को अपने से बाँधे रखने का जो सुख है, उससे बड़ा सुख है अपने को उस प्रेम से मुक्त कर लेने में—उसके त्याग में। यही वास्तविक सुख है। यदि ऐसा नहीं होता तो लोग त्याग और बलिदान की आराधना क्यों करते ? उसे वरेण्य क्यों मानते ? त्याग के द्वारा सच्ची और निर्विकार प्रसन्नता निःसृत होती है। क्योंकि उसमें सभी विकार समाप्त हो जाते हैं, प्रेम अपने शुद्ध, सात्त्विक और निश्छल रूप में प्रकट होता है। त्याग, प्रेम को अलौकिकता और अपार्थिवता प्रदान करता है और उसे एक स्वर्गीय आभा से मंडित कर देता है। इसलिए काशिराज ! कालिदास के त्याग में भी मुझे अतीव प्रसन्नता है, शर्त यह कि कुमार विषमशील भी उसका त्याग कर सकें। अच्छा यह होगा कि तुम राज्यमाता के सम्मुख ही कुमार से कवि की मांग करो।

(६६) नारी शक्ति से ही पुरुष को............असंभव कुछ नहीं है।

(पृ० १४३, पं० १६)

इन उद्धृत पंक्तियों में आचार्य विक्रममित्र नारी-शक्ति और माता के आशीर्वाद के महत्त्व पर प्रकाश डालते हैं। लार के मांडलीक भीमराज अभी-अभी राजमाता सौम्यदर्शना के दर्शन करके लौटे हैं और वे इतने अभिभूत हैं उस सौम्य दर्शन से कि कहते हैं—"दुर्गा की शक्ति उनमें है, उनके पुण्य से ही हम विजयी हुए।" वे इस विजय की घड़ी में भी राजमाता से समुचित सम्मान पाकर, उनकी शील, विनय और सद्भावना से अभिभूत होकर आश्चर्यचकित हो गये हैं। उनमें नई प्रेरणा, शक्ति के नये अणु खदबदाने लग गये हैं। इसीलिए आचार्य से कहते हैं कि हम लड़ते हैं, पर हमारी प्रेरणा का सूत्र उन जैसी नारियों के ही हाथों में रहता है, उनके पुण्य में ही निहित रहता है। नारी, केवल विलास की सामग्री कामिनी ही नहीं है, वह प्रेरणा की जननी माता और आराधना का आधार देवी भी है। आज ऐसी ही नारी के दर्शन उन्हें प्राप्त हुए जो आदि शक्ति की माता और पुण्यों की आराध्य भी है। आचार्य भीमसेन के इन भावों का पोषण करते हुए कहते हैं कि आदिकाल से ही नारी पुरुषों के लिए प्रेरणादायिनी रही है और पुरुष के सारे पौरुष को तरंगायित करने का श्रेय इसी नारी को प्राप्त है। रामायण,

महाभारत—सबकी कथाओं में यही आदर्श परिलक्षित होता है। न सीता होती, और न अचार्य शक्ति पर आर्य शक्ति की विजय होती, न पांचाली होती और न असत्य पर सत्य का साम्राज्य स्थापित होता। और फिर नारी, जब माता रूप में उपस्थित होकर प्रेरणा का संचार करने लगती है तब तो गरुड़ अमृत तक ले आता है, अलक्षेन्द्र संपूर्ण ज्ञात विश्व का दिग्विजयी वीर बन जाता है। तब पुरुष के लिए असंभव और असाध्य कुछ नहीं रह जाता।

शब्दार्थ—पृ० १४४—कमण्डलु = साधुओं का जलपात्र। अपरिचित = अनचीन्हा। जटाधारी = जटा धारण किये हुए। अलका = स्वर्ग। अपराधी = दोषी। उत्साहित करना = उकसाना। पाखंड = ढोंग। शिप्रा = अवंती का नदी।

(६७) यह केवल युद्धबंदी ही नहीं है······इसका न्याय होना चाहिये। (पृ० १४४, पं० ९)।

इन पंक्तियों में देशद्रोही जैन कालकाचार्य कमण्डलु और जटाधारी अपरिचित साधु के वेष में उपस्थित होकर बंदी शक सेनापति चंचु के उचित न्याय की मांग करते हुए आचार्य विक्रममित्र से कहता है। कालकाचार्य अब अपने देशद्रोह का प्रायश्चित करना चाहता है, उसने अपनी गलती समझ ली है। आज प्रकारांतर से वह अपना दोष भी स्वीकार कर रहा है। वह कहता है कि चंचु केवल युद्ध-बंदी ही नहीं है। आक्रमणकारी जब बंदी बना लिया जाता है तो युद्धबंदी कहलाता है। पर इस पिशाच चंचुल ने दस मास तक अवंती को लूटा-खसोटा है। दस महीनों के अंदर इसने कौन-कौन-से अनाचार नहीं किये। अवंती का राज्य उसे मिला तो उसे चाहिये था कि वह सुशासन करता, स्वराज्य नहीं तो सुराज्य की स्थापना तो करता। पर ठीक इसके प्रतिकूल उसने अवंती के सारे शृंगार को ही नोंच-खसोट लिया। उसकी सारी रूपरेखा ही बदल दी। यह उज्जयिनी, जिसकी शोभा के सम्मुख देवताओं की नगरी अलका भी लजाती थी, जिससे डाह करती थी, इस पापी द्वारा ध्वस्त कर डाली गयी। जहाँ के नागरिकों को सभ्यता और संस्कृति का प्रतिमान समझा जाता था, उन्हें पुनः बर्बरावस्था में पहुँचा दिया गया, उन्हें बर्बरता की सीख दी गयी। उसे राज्य मिला था तो वह

उसका रक्षक बनता, पर यह नीच भक्षक बन बैठा। प्रजा-कल्याण के बदले, विलास को प्रश्रय दिया, सुशासन के बदले कुशासन की नींव डाली। नारी जो समाज में मूर्धन्य स्थान की अधिकारिणी थी, वह इसके विलासी पैरों के तले रौंदी जाने लगी। जो बच्चे सुरक्षित होकर सभ्य नागरिक बनते, वे गुलाम बनाकर बेचे गये। इसने वह हंगामा मचाया कि अवंती एक अंधी दरिद्रा की तरह नंगी और भूखी धरित्री पर पड़ी हुई है और उसके आनन पर बर्बरता की गंदी मक्खियाँ भिनभिना रही हैं। जिसके जनपथों पर सुगंधित इत्र की गंध आती थी, उसके राजपथों पर भी गीध और सियार जब-तब हड्डियों को चबाते नजर आते हैं। कालकाचार्य शक-शासक पर एक-एक कर अभियोग लगा रहा है।

शब्दार्थ—पृ० १४५—निर्माण = रचना। युद्ध = संघर्ष। धक्का = चोट। नगर = शहर। अपहरण = भगा ले जाना। कन्या = लड़की। बाध्य = जबर्दस्ती। प्रतिकूल = विरुध। शस्त्र = हथियार। स्वभाव = आदत। कीर्ति = यश। पाखंडी = ढोंगी। दहकना = भभकना। क्षमा = माफ। स्वर्गीय = मृत। अस्वीकार = नामंजूर।

(६८) निर्माण तो हमें यहीं इस देश..........स्वभाव नहीं छूटेगा।
(पृ० १४५, पं० १)

इन उद्धृत् पंक्तियों में बर्बरावस्था से गुजरती हुई शक जाति को सेनापति पिशाच चंचु अपने जातीय स्वभाव और धारणाओं का परिचय देते हुए कहता है। उसने साधुवेश में उपस्थित कालकाचार्य को पहचान लिया है और प्रकारान्तर से उन कारणों पर प्रकाश डाल रहा है जिनके चलते यह देश शकों द्वारा पराजित हुआ। परस्पर अभियोग में ही कारणों का रहस्योद्घाटन होता है। वह कहता है, हम पर विनाश का आरोप व्यर्थ है। हिमालय से उमड़कर चलने वाली बरसाती नदी पर कोई यह आरोप करे कि उसने शस्य श्यामला भूमि को बर्बाद कर दिया—कितना अनर्गल है। फूस के छप्पर में चिनगारी देखकर फूँक मारो और आग पर यह आरोप करो कि उसने तुम्हारे घर को ध्वस्त कर दिया—कितना मूर्खतापूर्ण है यह आरोप! हमारी जाति निर्माण करना नहीं जानती, वह सिर्फ विनाश करना जानती है। वह छुट्टा साँढ़ है—उसे खेत दिखाओगे तो

वह हरे-भरे खेतों को रौंदेगा ही। हम इतना ही जानते हैं कि जहाँ शस्य-श्यामला भूमि देखो, अरक्षित पाओ उसे चर जाओ, खुन डालो, रौंद डालो। कुछ खाओ, कुछ बर्बाद करो। नगरों को लूट लो, आग लगा डालो, धन को बटोर लो और क्या? हमारी जाति उनके साथ एक ही व्यवहार जानती है जो हम करते हैं—खुलकर करते हैं, इस तरह कि एक पशु भी क्या करेगा? आज यहाँ जो हजार-हजार शक युद्धबंदी बना लिये गये हैं—कोई उन्हें मार कर भी उनकी आदत नहीं बदल सकता। फिर छुट्टा छोड़ो, हम वही करेंगे। हमारा यह जातीय स्वभाव है—दूसरी प्रकृति है। इसे न तो हम बदल सकते हैं, और न तुम। हमारे यहाँ कोई कवि कालिदास नहीं हुआ, और न कोई शीलभद्र। हम प्रकृति द्वारा निर्मित खोहों में रहते हैं—नंग-धड़ंग विजन प्रांतों में विचरते हैं और कोई लाठी लेकर न पिल पड़े या रस्सियों में न बाँध दे तो छुट्टे साँढ़ों की तरह हरे-भरे खेतों को चर जाते हैं।

शब्दार्थ—(पृ० १४६-१४७)—वाचाल = वतूनी, वतक्कड़। रक्त = नस्ल। भावमुद्रा = कलात्मक। रसातल = पाताल। प्रायश्चित = पश्चाताप मिश्रित प्रतिकार। नृशंस = निर्मम, पशु। प्रतिहिंसा = हिंसा का बदला। दुर्भाग्य = बुरे दिन। हत्यारा = हत्या करने वाला। विधर्मी = जो धर्म को न माने, म्लेच्छ।

(६९) हमारा भी जातीय धर्म देख ले·······तुम्हारा अधिकार है।

(पृ० १४७, पं० १६—)

इन पंक्तियों में आचार्य विक्रममित्र भारतवर्ष के जातीय सद्गुणों का विश्लेषण कर रहे हैं—दया, क्षमा और धैर्य ये गुण मनुष्य ही ला सकते हैं—पशु नहीं। कालकाचार्य ने यह मांग की है कि उसके पापों के प्रायश्चित के लिए शक-शासक चंचु के साथ ही उसे भी मृत्यु-दंड दिया जाय। कुमार विषमशील क्रोध से काँपते हुए वैसा ही करने की इच्छा प्रकट करते हैं। इस पर आचार्य विक्रममित्र कुमार को समझाते हैं—मृत्युदंड देने से सिर्फ विनाश ही तो होगा, निर्माण नहीं। कालकाचार्य को मार देने से न तो स्वर्गीय महेन्द्रादित्य पुनः जी उठेंगे और न चंचु को मृत्युदंड देने से अवंती अलका बन जायगी। वैष्णव हृदय

प्रतिहिंसा में भी दुख का अनुभव करता है। यदि हमारे निर्माण की नींव इनके विनाश से पड़े तो अभी भी इन बूढ़े हाथों से उनका सर धड़ से अलग वे कर दें। यह सुनते ही विषमशील को मर्म तक पीड़ा पहुँचती है, यह अनुभव कर कि राजमाता क्या कहेंगी। उनके पति का हत्यारा जीवित रहा—यह जान कर तो वे अपने पुत्र तक का मुँह नहीं देखेंगी, और न अन्न जल ग्रहण करेंगी। विक्रममित्र फिर समझाते हैं—चलो इनका निर्णय राजमाता से ही करा दें। उन्हें विश्वास है कि हमारे जातीय सद्गुण महादेवी में भी तो हैं। देखो, यह बर्बर, हिंसा और लूट को अपना जातीय धर्म कहता है और इसके लिए इसे ग्लानि नहीं बल्कि अभिमान है। जब अपने जातीय कर्म के अनुसार धर्म करने में इस बर्बर तक को अभिमान हो सकता है, तो फिर हम सभ्य कहलानेवाले वैष्णव अपना जातीय धर्म अभिमान के साथ क्यों न प्रदर्शित करें। एक मनुष्य को मनुष्य के साथ तो मनुष्यता का ही व्यवहार करना चाहिए। आचार्य जैन पण्डित कालकाचार्य को संबोधित करते हुए कहते हैं—पण्डित बोल, यदि तू शपथ ले कि जनता के प्रकृत और स्वभाविक धर्म के अनुकूल तू आचरण करेगा तो विदिशा का विजयी सेनापति अभी यह घोषणा कर दे कि अवंती का शासक जैन कालकाचार्य है। तूने देशद्रोह किया, पर सेनापति जातिद्रोह न करेंगे। तू भारतीय ही है, हमारी ही अंग है। कभी गलती से जब दाँत जीभ को काट लेते हैं तो क्या हम उन्हें तोड़ फेंकते हैं ? सिर्फ सावधानी बरतते हैं। तू अवंती के ध्वस्त शृंगार से दुःखी है। तू शासक बन कर फिर उसे नयी दुल्हन की तरह सजा।

शब्दार्थ (पृ० १४८—१५३)—पात्री = नाती। अनुष्ठान = यज्ञ, कार्य। स्तम्भ = खंभा। सम्प्रति = अब। साम्प्रदायिक = संप्रदाय का, संप्रदाय सम्बन्धी। विष्णुगुप्त = चाणक्य। पुरष्कार = इनाम। वितर्क = विचार। भाण्डार = खजाना। कटुभाषी = कड़ुवी बातें बोलनेवाला। संरक्षण = रक्षा में। यक्ष = एक जाति जिसके प्रधान कुबेर हैं। संयोग = मिलन। कामिनी = रमणी। इन्द्रियजयी = जो इन्द्रियों को जीत चुका हो। दंभ = घमण्ड। त्राता = रक्षक। अज्ञात कुलशील = जिसकी जाति और गोत्र का पता न हो।

(७०) **मैं बौद्धों की भाँति इन्द्रियजयी........मेरा कोई समाज नहीं।**
(पृ० १५३, पं० ४)—

इन पंक्तियों में महाकवि कालिदास, अपने अभिन्न मित्र कुमार विषमशील से विवाह के सम्बन्ध में विचार विमर्श कर रहे हैं। कालिदास काव्य और कामिनी की तुलानात्मक दृष्टि से पर्यवेक्षण करने पर अपने जीवन में काव्य को जो स्थान दे पाते हैं, वह कामिनी को नहीं। कामिनी के लिए उनके हृदय में कोई स्थान नहीं। उनके हृदय में पार्वती का निवास हो चुका है। कुमार विषमशील इस पर परिहास करते हैं—कालीदास बौद्धों के साथ कुछ दिनों तक रह चुके हैं--इसलिए कामिनी से पलायन बौद्ध धर्म का शेष संस्कार है। इसी पर कालिदास अपने मन की उस ग्रंथि को खोलते हैं, जिसके चलते वे अज्ञात-कुल-शील बने हुए हैं। वे कहते हैं कि उनके मन में बौद्धों का यह पाखंड काम नहीं कर रहा है कि वे इन्द्रियजयी हैं। एक कवि होने के नाते वे जानते हैं नारी समस्त सृष्टि की सर्वाधिक आकर्षकवस्तु है। प्रकृति ने अपनी सारी विभूति की मंजूषा उसे भेट-स्वरूप प्रदान की है, अपना सारा सौन्दर्य उसके अंग-अंग में संश्लिष्ट कर दिया है। एक बार उसके अधरों का रस-पान कर लेने के बाद सृष्टि में फिर कोई ऐसा तत्व नहीं जिस पर पुरुष की नजर टिके। और कवि अपने काव्य को नहीं छोड़ना चाहता वह उसके हृदय की वाणी है, गूंज है। इसीलिए उसे साहस नहीं होता कि किसी कामिनी की ओर देखे, उसे अपने हृदय में स्थान दे और फिर विवाह ? वह एक सामाजिक कार्य है। सारे कुटुम्ब का, रक्त का, परंपरा और संस्कार का सम्बन्ध है उससे। कालिदास किस कुटुम्ब, रक्त परम्परा और समाज का है, यह भी उसे ज्ञात नहीं। फिर विवाह कैसा ? ऐसा मालूम पड़ता है कि कवि को अपने पिछले जीवन पर, उसकी स्मृति तक से पीड़ा होती है।

शब्दार्थ (पृ० १५४-१५६) :—हनुमान = रामायण के पात्र जिन्होंने पर्वत उठा लिया था अपनी तलहथी पर। कल्पना = खयाल। वास्तविकता = यथार्थ। अस्वीकार = नामंजूर। अपवित्र = कलुषित। सर्वनाश = बर्बादी। मूर्खतावश = नासमझी के चलते। कृतज्ञता = अनुग्रह। पुलक = आनन्द। दाम्पत्य =

पति-पत्नी का सम्बन्ध। संयोग = मिलन। हंसवाहिनी = जो हंस पर सवार हो, सरस्वती। अन्यथा = नहीं तो।

(७१) ओह ! तो उस दिन तुम उस राजपुत्री······उन्हें बोना होगा। (पृ० १५५, पं० ७)

इन पंक्तियों में आचार्य विक्रममित्र कालिदास को उस दिन और उस घटना की याद दिला रहे हैं जिस दिन कुमारी वासंती ने गरुड़ध्वज और सिंहासन के सामने कवि कालिदास के गले में माला डाली थी और वह पुलक तथा आनन्द से पसीज-पसीज और गद्‌गद् हो उठी थी। कालिदास वासंती की इस भावना और कार्य को काशी से बिना रक्तपात के काशिराज को सकुशल विदिशा तक पहुँचा देने की उसकी कृतज्ञता का ज्ञापन समझ बैठे हैं। इसी पर सेनापति मीठा परिहास करते हुए कहते हैं—तो उस दिन कालिदास वासंती के पिता के रक्षक-रूप में उपस्थित थे? वाह! कहा जाता है—जहाँ न जाय रवि, वहाँ जाय कवि। और कवि जी ऐसे कि सामने के प्रत्यक्ष को भी नहीं भाँप सके? वाह रे महाकवि! विक्रममित्र स्मरण दिला रहे हैं कि उस दिन वासंती की आँखों में किसी चिरप्रेयसी के भाव तिर रहे थे, उसका रोम-रोम कदंब की तरह पुलक उठा था और उसके मन में भावनाओं की वह आँधी बह रही थी जो विशिष्ट ऋतु में और विशिष्ट अवसर पर ही किसी नारी हृदय में उठा करती है। विक्रममित्र कहते हैं—कालिदास, एक प्यार करनेवाले हृदय को भग्न करना विश्व का सबसे बड़ा पाप है। तुम जिस प्रेम और शक्ति के गीत गाते हो, उसी प्रेम और शक्ति की देवी का तिरस्कार कर रहे हो। प्रकृति जब हमें पैदा करती है, तो हममें पैदा करने के अगणित बीज भी छोड़ जाती है—वह इसलिए कि प्रकृति के अपने कार्य सहज-स्वाभाविक रूप से संपादित हों। इस प्रकार तुम्हारा यह प्राकृतिक कार्य है कि तुम दाम्पत्य-सुख का उपभोग करते हुए सन्तानोत्पत्ति करो—इसी में जन्म लेने की सार्थकता है। इससे मुख मोड़ना अस्वाभाविक है। लेखक इस वाक्य को विक्रममित्र से न कहलाकर किसी दूसरे पात्र से कहलवाता तो अधिक समीचीन होता। आचार्य ने स्वयं किसी विशिष्ट लक्ष्य की प्राप्ति के लिए दाम्पत्य-सुख का परित्याग कर बाल ब्रह्मचारी रहने की सौंगध ली थी।

(७२) विदिशा में जब तुम···जन्मान्तर से है। (पृ० १५६, पं० २)

इन पंक्तियों में आचार्य विक्रममित्र कालिदास को वासंती के लिए अनुकूल बना लेने के पश्चात् कुमार विषमशील को मलयवती को ग्रहण करने को कह रहे हैं। वे यह स्पष्ट कर देते हैं कि यद्यपि कुमार विषमशील विवाहित हैं, फिर भी इस दूसरे विवाह से, एक ही पत्थर से दो शिकार हो जाते हैं। प्रथम तो यह कि मलयवती पांड्यराज की अकेली सन्तान है, उससे विवाह करने से यह राजनैतिक सिद्धि प्राप्त होगी कि कुमार दक्षिणापथ के भी स्वामी अनायास बन जायँगे। दूसरा यह कि मलयवती जो अपने हृदय के समस्त रुमानी भावों के साथ उसे प्यार करती है, संतुष्ट होगी। राजनैतिक सार्थकता के साथ-साथ एक नारी के प्रेम की भी सार्थकता इसमें निहित है। कुमार कुछ हिचकिचाते हैं तो आचार्य उन्हें रोक देते हैं और बताते हैं—प्रेम का सम्बन्ध इसी शरीर और जन्म से नहीं रहता, वह जन्म-जन्मातर से रहता है। ऐसा नहीं होता तो वासंती कुमार की ओर और मलयवती कवि की ओर क्यों न झुकी ? यह भी प्रकृति-दत्त वरदान है कि कोई विशिष्ट नारी, किसी विशिष्ट पुरुष के प्रति ही आकृष्ट हो। वे कुमार को स्मरण कराना चाहते हैं कि जब कवि 'कुमार संभव' सुनाता रहता तो मलयवती कुमारी की ओर देख-देख कर किस प्रकार विस्मय और भाव-विमुग्ध हो जाया करती थी। जैसे उस काव्य के पात्रों में वह अपने आपको कुमार के साथ ही चित्रित पा रही हो। सेनापति कहते हैं कि मलयकुमारी का कुमार के साथ सम्बन्ध प्रारम्भ से ही है, वह कुमार के दर्शन मात्र से ही अपनी सुध-बुध खो देती रही है। दोनों का सम्बन्ध इसी जन्म से नहीं, जन्मांतरों से है।

शब्दार्थ (पृ० १५७-१६१) :—अंतरंग = अभिन्न। प्राप्य = जो प्राप्त करने योग्य हो। वरण = विवाह। आखों से पी जाना = देखते ही रहना। पुष्पधन्वा = जो फूलों का धनुष धारण करता हो, कामदेव। सहोदर = एक पेट के। संकेत = इशारा। आत्मीय = अपने। छूमन्तर = गायब। कक्ष = कमरा। छंद = काव्य। पत्रवधू = पुतोहू। मान करना = रूठना। सहवास = साथ रहना। खिन्न = उदास।

(७३) **कवि की संतान तो उसकी.........अपने काव्य में।**

(पृ० १६१, पं० १२)

इन उद्धृत पंक्तियों में भावी महाकवि और भावी चक्रवर्त्ती सम्राट् अपने भावी दाम्पत्य जीवन की भावी योजनाओं पर विचार-विमर्श कर रहे हैं। कालिदास काव्य के सम्मुख कामिनी को महत्त्व नहीं देते। वे समझते हैं कि उनका जीवन काव्य के लिए ही है और उससे जो सुख उन्हें प्राप्त है, वह कामिनी नहीं दे पायगी। कामिनी पुरुष का संसर्ग पाते ही कौमार्य खो देती है, कल्पना तो चिर कुमारी है। उत्कृष्ट कवि का अधिकाधिक संसर्ग उसके कौमार्य को उत्कर्ष पर ही ले जाता है। यह सुन कर कुमार विषमशील को वासंती के लिए परिताप होता है और वे कहते हैं कि विवाह करके भी ऐसा आचरण करना कामिनी के प्रति अन्याय-सूचक ही होगा। कालिदास अपनी भली योजना को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—कवि की संतान तो उसकी रचनाएँ हैं न! वासंती से भी वे रचनाओं की ही उत्पत्ति करेंगे। काव्य का सृजन करेंगे। आचार्य विक्रममित्र निःसंतान होकर भी कवि में अपनी संतान का सुख देखते रहे, उसी प्रकार कालिदास भी निःसंतान रह कर अपनी रचनाओं से ही संतान-सुख प्राप्त करेंगे। इसका अर्थ यह नहीं कि वासंती का कामिनी रूप बुभुक्षित ही रहेगा। नहीं, वह कवि में इस प्रकार तन्मय हो जायगी कि उसकी प्रेरणा बन कर उसकी रचनाओं की भी जननी सिद्ध होगी। उसके सुख को कोई क्षति नहीं पहुँचेगी, और न मेरी कल्पना को। दोनों ही सुखी रहें—दोनों को सम-भाग मिले। दोनों सौत की तरह एक दूसरी से डाह नहीं करेंगी, बल्कि अभिन्न बन जायँगी और कल्पनाप्रसूत रचनाएँ वासंती का वैसा ही वात्सल्य पाकर धन्य बन जायँगी।

शब्दार्थ पृ० १६२-१६३—ढूह = खंडहर। कालिया = कालिख, पाप। स्वाहा = भस्म। सम्प्रति = अभी। सुवर्ण = सोना। दुर्लभ = जो सुलभ न हो।

(७४) राजनीति की पहली कसौटी.........कुमार को आशीर्वाद दो।
(पृ० १६३ पं० ५)

इन पंक्तियों में आचार्य विक्रममित्र कालकाचार्य को क्षमा कर देने का महत्त्व बतला रहे हैं। कुमार विषमशील को इसके लिए आक्रोश है कि आचार्य उनके पितृहन्ता कालकाचार्य को क्षमा कर देने पर तुले हैं और माता सौम्यदर्शना तक से इसकी स्वीकृति ले चुके हैं। इसी पर आचार्य कुछ धर्म, कुछ राजनीति और कुछ भविष्य की चर्चा करते हुए अपने कार्य की सार्थकता बता रहे हैं। राजनीति में शत्रु की प्रतिष्ठा एवं शरणागत की रक्षा आर्यधर्मानुकूल है। इससे विपरीत आचरण तो पशुतुल्य होगा। जो व्यक्ति अपने दोषों को दोष समझकर उसका प्रायश्चित करे और शरण में क्षमा के लिए आ जाय उसकी रक्षा करना राजनैतिक धर्म है। राजनीति, नीति पर लात धर कर नहीं, कंधे-से-कंधा मिला कर चला करती है। कालकाचार्य शरणागत है, उसने आत्मसर्पण किया है, अब उसे प्राणदंड देना राजनीति तो राजनीति, मानवधर्म तक के प्रतिकूल है। कुमार, कुमार हैं, खून गर्म है, इसलिए प्रतिहिंसा की ज्वाला बड़ी प्रबल है, एक बौखलाहट है। उन्हें राजनीति की जटिलताओं का अनुभव नहीं। प्रसादजी ने लिखा है—
"नवीन रक्त राज्यलक्ष्मी को सदैव तलवार के दर्पण में देखना चाहता है।"
यही हालत कुमार की है। पर विक्रममित्र ने धूप में अपने केश सफेद नहीं किये। वे कालकाचार्य के स्वयं आकर मृत्युदंड माँगने से काफी प्रभावित हुए हैं और मानव-मनोविज्ञान का कुशल पारखी होने के नाते ताड़ जाते हैं कि उसका हृदय स्फटिक की तरह स्वच्छ और निर्मल हो चुका है। तब क्यों न उसकी मेधा और ज्ञान का प्रयोग राष्ट्र-हित के लिए किया जाय। इससे कई कार्य एक साथ सध जाते हैं। धर्म की रक्षा, अपने हृदय की विशालता का परिचय, कालक के स्थायी हृदय-परिवर्तन की स्वीकृति, सभी एक साथ।

शब्दार्थ (पृ १६४-१६६):—अखंड = लगातार। मानचित्र = नक्शा। त्रिलोक सुन्दरी = तीन लोकों की सुन्दरी। संहारक = विनाशक। पर्वतीय स्रोत = पहाड़ी सोता।

(७५) प्रकृति के संहार में निर्माण……निर्माण भी करना पड़े।

(पृ० १६६, पं० ६)

इन पंक्तियों में कवि कालिदास कुमार विषमशील के प्रतिकूल जैन कालकाचार्य की स्वतंत्रता पर प्रसन्नता प्रकट कर रहे हैं। आचार्य और महादेवी ने कालक को क्षमा कर दिया है और अब कालक ने यह इच्छा प्रकट की है कि जैनमठ और बौद्ध संघाराम में संचित कोष से वह अवन्ती के उजड़े शृंगार का शिल्पी शीलभद्र की सहायता से नव-निर्माण करेगा। कुमार कुछ रुष्ट होकर आश्चर्य प्रकट करते हैं कि संरक्षक कालक निर्माणक कैसे बनेगा? इसी पर कालिदास प्रकृति के सर्व-मान्य सिद्धांत की विवेचना करते हुए कहते हैं कि प्रकृति में निर्माण के साथ विनाश और विनाश के साथ निर्माण का अप्रतिहत क्रम लगा हुआ है। ध्वंस के बाद निर्माण की बेला आती ही है, जैसे रात के बाद उषा का आगमन होता है। जिस विध्वंसक कालक ने अवन्ती को नष्ट-भ्रष्ट कर देने के लिए कुछ भी उठा नहीं रखा, वही अब उसे पुनः सँवारने में एड़ी-चोटी का पसीना एक करेगा। मनुष्य में भी दोनों की वृत्तियाँ काम करती हैं। यह आचार्य की दूरदर्शिता का परिणाम है कि उन्होंने कालक की उस कारयित्री रचनात्मक प्रतिभा को उत्प्रेरित कर दिया है और अब वह निर्माण का महत्त्व समझकर उस ओर झुका है। उसके हृदय की सारी कलिमा धुलकर नये आत्मविश्वास और निष्ठा से परिपूर्ण हो नयी चमक से उद्भासित हो उठी है। इसी में उसकी सिद्धि, आचार्य की सफलता और कुमार का प्रताप है।

———

कतिपय साधारण पात्रों का चरित्र-चित्रण

काशिराज :—'गरुड़ध्वज' नाटक में काशी के राजा बौद्धों की उस धर्मान्धता के प्रतीक बना कर उपस्थित किये गये हैं जो विश्वमैत्री के नाम पर जातीय गौरव और धार्मिक सहिष्णुता के नाम पर राष्ट्र-धर्म तक की बलि चढ़ा देने में नहीं हिचकते। आप अपनी पुत्री वासंती का विवाह शाकल के पचास वर्षीय यवनकुमार से इसलिए चुपचाप कर देना चाहते हैं कि वह भी बौद्ध है। आर्यावर्त्त की एक राजकुमारी का परिणय एक ऐसे वयस्क यवन से हो जो आचरण में बर्बर, सभ्यता में हीन और संस्कार में पशुतुल्य है—भारतवर्ष के जातीय गौरव के प्रतिकूल है। विदिशा के सेनापति आचार्य विक्रममित्र जो पाँच-छह पुरुषों से वैदिक धर्म की निष्ठा को पुनः स्थापित करने का अथक प्रयत्न कर रहे हैं—यह संवाद सुन कर विक्षुब्ध हो उठते हैं और राष्ट्रीय गौरव की रक्षा के लिए वासंती का उद्धार करते हैं। बात यह थी कि काशिराज उत्तराखंड में एकमात्र बौद्ध शासक बच गये थे, और सांप्रदायिक वैमनस्य के चलते आर्यावर्त्त का कोई भी राजकुमार उनकी कन्या से परिणय करने को तैयार नहीं था। परिस्थितिवश उन्होंने अपने गुरुभाई के पुत्र से ही विवाह कर देने निश्चिय किया और इस दुरभिसंधि को अंत तक इतना गुप्त रखा कि अपनी पुत्री तक को इसका अता-पता न दिया।

'काशिराज' इस नाटक के सभी पुरुष-पात्रों में अत्यन्त कारुणिक हैं। अभी आँखों के सामने ही उनके धर्म के स्तम्भ एक-एक कर टूटते-से गये और एक दिन ऐसा हुआ कि उन्हीं के राजमहल के सामने दुर्गा को भैंसों की बलि दी गयी। उनकी पुत्री की मांग में सुहाग का सिन्दूर लगा भी नहीं कि उनका जामाता मारा गया। इस धक्के से वे सम्हल भी नहीं पाये थे कि विदिशा की सेना काशी से कुछ ही योजन पर खड़ी कालिदास के आक्रमणात्मक संकेत की प्रतीक्षा कर रही थी। उनके सामने ही—विदिशा के एक भावुक कवि के सम्मुख—उनके

बड़े-बड़े बौद्ध तार्किक निर्वाक् खड़े रहे। और जब उन्होंने महाकाल के मंदिर में शैव-धर्म को करीब-करीब स्वीकार कर भी लिया था कि विदिशा-युद्ध में कुमार विषमशील तक ने उन पर अविश्वास किया। बौद्ध-धर्म छोड़ने के कारण स्वयं उनकी उसी पुत्री ने उनकी भर्त्सना की जिसके शोक में विह्वल होकर वे विदिशा आये थे और उन्होंने धर्मपरिवर्त्तन किया था।

काशिराज अंत में एक दुद्धर्ष राष्ट्र-सेवक के रूप में भी उपस्थित होते हैं। वे न होते तो कालकाचार्य और भैरवघोष के षडयंत्र से कुमार विषमशील और कालिदास की रक्षा नहीं हो सकती। उन्हें अंत में इसके लिए परिताप भी है कि अवंती-उद्धार के युद्ध में एक उनको छोड़कर भारत के सभी प्रसिद्ध राजकुल यवनों से लोहा ले रहे हैं। अंत में उनके हृदय ने यह स्वीकार किया कि भारत की तत्कालीन दुरवस्था का सर्वप्रधान कारण बौद्धों का अप्राकृतिक और राष्ट्रद्रोही आचरण ही था, जिसने एक ओर तो देश को खोखला बना दिया और दूसरी ओर आक्रमणकारियों को निमंत्रण दिया, उकसाया। इस कायाकल्प और राष्ट्र-धर्म के पुनर्जागरण का एकमात्र कारण कालिदास ही हैं।

काशिराज कालिदास के प्रति अत्यन्त भावुक रहे हैं। उनके जीवन की डोर न जाने कैसे अप्रत्याशित रूप से कालिदास के क्रियाकलापों से बँध गयी। कालिदास ही उनके रोग और वे ही उनके निदान भी थे। प्रायश्चित की आग में तप कर उनका हृदय शुद्ध सुवर्ण की तरह निखर-निखर उठा है।

कालकाचार्य—"गरुड़ध्वज' का कालकाचार्य अपने युग का सबसे बड़ा जैन पंडित और कुटिल रातनीतिज्ञ था। वैष्णव-द्रोह के कारण ही उसने राष्ट्रद्रोह, और जातिद्रोह तक किया और जब अवंती का शासक महेन्द्रादित्य जैन-मठों से राजनीति का उद्धार करने में सफल हुआ तो कालक ने मीननगर के शकों को अवंती पर आक्रमण करने का निमंत्रण दिया और वह मीननगर से अवंती तक शकों को रास्ता दिखाता रहा। यह कालकाचार्य का ही राष्ट्रद्रोह था जिसने धोखे से महेन्द्रादित्य की हत्या करवा कर अवंती के शृंगार को इस तरह छिन्न-भिन्न कर दिया कि जिन पथों पर आपादमस्तक इत्र-पूर्ण नागरिक भ्रमण किया करते थे,

वहाँ गिद्धों और शृंगालों के झुण्ड दिखायी पड़ने लगे। इसने बौद्धों और जैनों को संगठित कर शकों के साथ संपूर्ण वैदिक विधान के विरुद्ध धर्म-युद्ध बोल दिया था।

इसका प्रवेश अवंती के उद्धार के लिए किये गये शक-युद्ध में होता है और वहाँ उसने अवंती के राजकुमार विषमशील पर पीछे से आक्रमण कर दिया था। यह तो कालिदास की वीरता थी जिसकी अग्निवर्षा के सम्मुख इसका रथ टूट गया, घोड़े मर गये, प्रत्यंचा कट गयी और तब यह भाग खड़ा हुआ। इसे उत्तराखंड की सभी गुफाओं और खोहों का पता था, और जनता पर इसका इतना आतंकपूर्ण प्रभाव था कि लोग वर्षा होने और न होने तक का कारण उसे ही समझते थे। इसी युद्ध में पराजित होकर वह साधु का वेष धारण कर महाकाल के मंदिर में उपस्थित हुआ अपने कायाकल्प के लिए।

अंत में उसे राष्ट्रद्रोह के लिए पश्चाताप हुआ और वह अपने रक्त से अपने पापों को धोने के लिए कटिबद्ध हुआ। उसने प्राणदंड की भिक्षा माँगी, पर आचार्य विक्रममित्र प्रतिहिंसा में भी दुख मानते थे, जिसके चलते उसे महादेवी सौम्यदर्शना ने क्षमा कर दिया। उसने चंचु पर आरोप किया और चंचु ने उस पर। इसी आरोप के क्रम में उसके सभी पिछले पापों का रहस्योद्घाटन हुआ और कुमार विषमशील ने तो यहाँ तक प्रतिज्ञा कर ली कि वह अपने पितृहंता को कभी क्षमा नहीं करेंगे।

कालक पश्चाताप की अग्नि में तप कर शुद्ध बन जाता है और अंत में जैन-मठों और बौद्ध संघारामों की सभी संचित धनराशि से अवंती का पुनर्निर्माण करने को कटिबद्ध होता है। शक-सरदार जनशक्ति का योग देने का वचन देता है और तक्षशिला के शिल्पी शीलभद्र के मानचित्र के आधार पर यह कार्य सम्पन्न होता है।

महादेवी सौम्यदर्शना :—गरुड़ध्वज में महादेवी सौम्यदर्शना का चरित्र वात्सल्य, शील और विनय से पूर्ण प्रदर्शित किया गया है। वह जैनपिता की पुत्री होकर भी शैव अवंती नरेश महेन्द्रादित्य से व्याही गयी और एक जैन के ही द्वारा विधवा बनायी गयी। वह भी आचार्य विक्रममित्र की सर्वातिशायी सहानुभूति से रोम-

रोम तक भींगी हुई है और देश का भावी चक्रवर्त्ती सम्राट् कुमार विषमशील उसीका पुत्र है। उसका सर्वप्रथम प्रवेश अवंती-उद्धार के लिए किये गये युद्ध का समाचार जानने के लिए महाकाल के मंदिर में होता है। वह कुमार के सम्बन्ध में इस तरह बेचैन है कि कहती है वह महाकाल का मंदिर बुहारेगी यदि कुमार सकुशल लौट जाय। विक्रममित्र पर उसकी गंभीर आस्था है और वह समझती है कि जब तक वे हैं तब तक किसीका अनिष्ट नहीं हो सकता।

महादेवी दया की मूर्त्ति हैं। वह अपने पति के हत्यारे तक को क्षमा कर देती हैं और कालक के विध्वंसक रूप को भी निर्माण का सुअवसर प्रदान करती है। उसकी क्षमा एक दुर्बल नारी की क्षमा नहीं बल्कि उस राजमाता की क्षमा है, जिसकी कुक्षि से उत्पन्न संतान ही भारत का चक्रवर्त्ती सम्राट् बनी।

———

महत्वपूर्ण प्र

(१) हिन्दी नाटकों के इतिहास पर एक अ

(२) हिन्दी नाटकों की परम्परा में मिश्र
प्रतिपादन कीजिये।

(३) लक्ष्मी नारायण मिश्रजी के रचनागत
(४) मिश्रजी की नाट्यकला पर विचार कीजिये।
(५) 'गरुड़ध्वज' की कथावस्तु का विशद परिचय दीजिये।

(६) 'गरुड़ध्वज' नाटक का नायक आप किसे कहते हैं और क्यों? युक्तियुक्त विचार कीजिये।

(७) 'गरुड़ध्वज' की ऐतिहासिकता पर विचार कीजिये

(८) निम्नलिखित पात्रों का चरित्र-चित्रण कीजिये :—

विक्रममित्र
कालिदास
कुमार विषमशील
वासंती
मलयवती
काशिराज
कालकाचार्य
सौम्यदर्शना

